वार्षिक रु. ६०.००
मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४६ अंक ५ मई २००८
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

५ वर्षों के लिए — रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये —

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए — रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २२,७५०

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं । सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

- श्री शंकराचार्य

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्तिर्न
सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।६।।

अन्वय – शास्त्राणि वदन्तु, देवान् यजन्तु, कर्माणि कुर्वन्तु, देवताः भजन्तु अपि, आत्मैक्यबोधेन विना ब्रह्म-शतान्तरे अपि मुक्तिः न सिद्ध्यति ।

अर्थ – चाहे कोई कितने भी शास्त्र के उद्धरण देता रहे, चाहे कोई कितना ही देवताओं की प्रसन्नता के लिये याग-यज्ञ करता रहे, कोई चाहे कितने ही शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करता रहे; परन्तु जीव का आत्मा (ब्रह्म) के साथ एकत्व की अनुभूति हुए बिना ब्रह्मा के सौ कल्पों अर्थात् करोड़ों वर्षों में भी मुक्ति नहीं हो सकती ।

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः ।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ।।७।।

अन्वय – वित्तेन अमृतत्वस्य आशा न अस्ति एव हि श्रुतिः ब्रवीति । यतः कर्मणः मुक्तेः अहेतुत्वं स्फुटम् ।

अर्थ – वेदों की निश्चित घोषणा है कि धन के द्वारा अमृतत्व पाने की कोई आशा नहीं है ।* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि (सकाम) कर्म मुक्ति का कारण नहीं हो सकता ।

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ।।८।।

अन्वय – अतः विद्वान् संन्यस्त-बाह्यार्थ-सुख-स्पृहः सन् सन्तम् महान्तम् देशिकम् समुपेत्य तेन उपदिष्ट अर्थ समाहितात्मा विमुक्त्यै प्रयतेत ।

अर्थ – अतः विद्वान् व्यक्ति को चाहिये कि वह बाह्य जगत् के विषयों से सुख पाने की इच्छा को त्यागकर, किसी सज्जन तथा उदार गुरु के पास जाय और उनके द्वारा उपदेश के रूप में बतायी गयी साधना में मन को लगाकर, अपनी मुक्ति के लिये प्रयास करे ।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ।।९।।

अन्वय – सम्यक्-दर्शन-निष्ठया योगारूढत्वं आसाद्य संसार-वारिधौ मग्नं आत्मानम् आत्मना उद्धरेत् ।

अर्थ – आत्म-दर्शन में निष्ठा के द्वारा योगारूढ़ की अवस्था को प्राप्त करके व्यक्ति को संसार-सागर में डूबी हुई अपनी आत्मा का स्वयं ही उद्धार करना चाहिये ।

संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ।।१०।।

अन्वय – आत्माभ्यासे उपस्थितैः धीरैः पण्डितैः सर्व-कर्माणि संन्यस्य भव-बन्ध-विमुक्तये यत्यताम् ।

अर्थ – ऐसे धीर तथा विद्वान् साधक को (वेदान्त में कथित आत्मा के श्रवण, मनन आदि का) अभ्यास आरम्भ करने के बाद, सभी (सकाम) कर्मों को त्यागकर, जन्म-मृत्यु रूपी भव-बन्धन से मुक्त होने के लिये चेष्टा करनी चाहिये ।

* **न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** – न कर्म के द्वारा, न पुत्र के द्वारा और न धन के द्वारा, अपितु केवल त्याग के द्वारा ही कुछ लोगों ने अमृतत्व प्राप्त किया है । (बृहद. उप. २.४.२)

रामकृष्ण-प्रार्थना

– १ –

(केदार-कहरवा)

नहीं जगत् में अपना कोई, लगे परायी दुनिया सारी,
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।१।।

शक्ति न तन में, भक्ति न मन में,
आशा की न किरण जीवन में,
जग में सदा यही लगता है,
भटक रहे, ज्यों दीन भिखारी ।
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।२।।

अगणित पापी-तापी तारे,
हम भी बैठे आस तुम्हारे,
लिये हुए हैं अपने सिर पर,
त्रिविध ताप का बोझा भारी ।
इसीलिये तो आया ठाकुर
सबको तजकर शरण तुम्हारी ।।३।।

– २ –

(कलावती-त्रिताल)

दया करके, प्रभो हमको,
चरण में आसरा देना ।
हमारी दोष-त्रुटियों को, सहजता से भुला देना ।।१।।

हमारे ध्यान में आओ, हमारे दिल में बस जाओ,
हमारी रूह में निज ज्ञान का, दीपक जला देना ।।२।।

हमारा कर्म तव पूजन, हमारा धर्म तव चिन्तन,
पिता-माता हमारे हो, हमें अमृत पिला देना ।।३।।

विदा जब हों यहाँ से हम, यहीं पर छोड़ खुशियाँ-गम,
अलौकिक लोक में अपने, हमें फिर से जिला देना ।।४।।

– विदेह

भारत का पुनरुत्थान – उपाय

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की निर्जनता से निकालकर, कुछ विशेष सम्प्रदायों के हाथ से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि ये सत्य दावानल के समान पूरे देश को चारों ओर से लपेट लें – उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र फैल जायँ – हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र धधक उठें।[१३]

राष्ट्रीय महापुरुषों के प्रति श्रद्धा

सर्वप्रथम महापुरुषों की पूजा चलानी होगी। जो लोग उन सब सनातन तत्त्वों की अनुभूति कर गये हैं, जैसे भारत में श्रीराम, श्रीकृष्ण, महावीर हनुमान तथा श्रीरामकृष्ण – इन्हें लोगों के समक्ष आदर्श या इष्ट के रूप में प्रस्तुत करना होगा। देश में भी रामचन्द्र और महावीर की पूजा चला दो तो जानूँ? ... गीता का सिंहनाद करनेवाले श्रीकृष्ण की पूजा चला दो – शक्ति की पूजा चला दो ! ... इस समय आवश्यकता है महान् त्याग, महान् निष्ठा, महान् धैर्य और स्वार्थगन्धशून्य शुद्ध बुद्धि की सहायता से महान् उद्यम के साथ सभी बातें ठीक-ठीक जानने के लिये कमर कसकर लग जाना।[१४]

धर्म पर आघात मत करो

धर्म को क्षति पहुँचाये बिना ही जनता की उन्नति – इसे अपना आदर्श बना लो। ... क्या समता, स्वतंत्रता, कार्य-कौशल, पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसी के साथ-ही-साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा तथा साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही।[१५]

मेरा यही दावा है कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिये हिन्दू धर्म का विनाश करने की कोई जरूरत नहीं है। ऐसी बात नहीं कि समाज की वर्तमान दशा हिन्दू धर्म की प्राचीन रीति-नीतियों और आचार-अनुष्ठानों के समर्थन के कारण हुई, वरन् ऐसा इसलिये हुआ कि धार्मिक तत्त्वों का सभी सामाजिक विषयों में भलीभाँति उपयोग नहीं हुआ है।[१६]

धर्म ही भारत की जीवनी-शक्ति है; और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी, तब तक संसार की कोई भी शक्ति उसका नाश नहीं कर सकती।[१७]

यदि जीवन का रक्त सशक्त तथा शुद्ध है, तो शरीर में रोग के जीवाणु नहीं रह सकते। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन-रक्त है। यदि यह साफ बहता रहे, यदि यह शुद्ध तथा सशक्त बना रहे, तो सब कुछ ठीक है। राजनीतिक, सामाजिक या चाहे जैसी भी जागतिक त्रुटियाँ हों, चाहे देश की निर्धनता ही क्यों न हो; यदि खून शुद्ध है, तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।[१८]

यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाज -नीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जायेगा। यदि तुम इससे बचना चाहो, तो तुम्हें अपने सारे कार्य अपनी जीवन-शक्ति रूपी धर्म के भीतर से ही करने होंगे। ... इस संसार में जैसे हर व्यक्ति को अपना-अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है, वैसे ही हर राष्ट्र को भी चुन लेना पड़ता है। हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था, और अब हमें उसी से लगे रहना चाहिये – उसी के अनुसार चलना चाहिये। फिर, हमारा यह चयन भी तो उतना कोई बुरा नहीं। जड़ के बदले चैतन्य का, मनुष्य के बदले ईश्वर का चिन्तन करना, क्या संसार में इतनी बुरी चीज है? परलोक में दृढ़ आस्था, इस लोक के प्रति विरक्ति, प्रबल त्याग-शक्ति एवं ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास तुम लोगों में सतत विद्यमान है। क्या तुम इसे छोड़ सकते हो? नहीं, तुम इसे कभी नहीं छोड़ सकते। तुम कुछ दिन भौतिकवादी होकर और भौतिकवाद की चर्चा करके भले ही मुझमें विश्वास जमाने की चेष्टा करो, पर मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो। तुम्हें बस धर्म को थोड़ा ठीक से समझा देने भर की देर है, तुम परम आस्तिक हो जाओगे। सोचो, अपना स्वभाव तुम भला कैसे बदल सकते हो?

अत: भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म-प्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी या राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले जरूरी है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय।[१९]

हिन्दुओं को अपना धर्म छोड़ने की जरूरत नहीं। परन्तु

उन्हें चाहिये कि धर्म को एक उचित मर्यादा के भीतर सीमित रखें और समाज को उन्नत करने के लिये स्वाधीनता प्रदान करें। भारत के सभी समाज-सुधारकों ने पुरोहितों के आत्याचारों और अवनति का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ने की एक भयंकर भूल की और उसके अभेद्य गढ़ को ढहाने का प्रयत्न किया। नतीजा क्या हुआ? असफलता! बुद्धदेव से लेकर राजा राममोहन राय तक – सबने जाति-भेद को धर्म का एक अंग माना और जाति-भेद के साथ-ही-साथ धर्म पर भी पूरा आघात किया और वे सभी असफल रहे।[२०]

भला हो या बुरा, भारत में हजारों वर्षों से धार्मिक आदर्श की धारा प्रवाहित हो रही है। भला हो या बुरा, भारत का वायु-मण्डल इसी धार्मिक आदर्श से अगणित शताब्दियों तक पूर्ण रहकर जगमगाता रहा है। भला हो या बुरा, हम इसी धार्मिक आदर्श के भीतर पैदा हुये और पले हैं – यहाँ तक कि अब धर्मभाव हमारे जन्म से ही रक्त में मिल गया है; हमारे रोम-रोम में वही धार्मिक आदर्श रम रहा है, वह हमारे शरीर का अंश और हमारी जीवनी-शक्ति बन गया है। इस वेगवती नदी ने हजारों वर्ष में अपने लिये जो तल बनाया है उसे भरे बिना, इस शक्ति की प्रतिक्रिया जगाये बिना, क्या तुम धर्म का परित्याग कर सकते हो? क्या तुम चाहते हो कि गंगा की धारा फिर बर्फ से ढके हुये हिमालय को लौट जाय और फिर वहाँ से नवीन धारा बन कर प्रवाहित हो? यदि ऐसा होना सम्भव भी हो, तो भी यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता कि यह देश अपने धर्ममय जीवन के विशिष्ट मार्ग को छोड़ सके और अपने लिये राजनीति या किसी अन्य नये मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दे। तुम उसी रास्ते से काम कर सकते हो, जिस पर बाधायें कम हों। और भारत के लिये धर्म का मार्ग ही अल्पतम बाधावाला मार्ग है। धर्म के पथ का अनुसरण करना हमारे जीवन का मार्ग है, हमारी उन्नति का मार्ग है और हमारे कल्याण का भी यही मार्ग है।[२१]

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि दूसरी चीज की जरूरत ही नहीं है, यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है। ... मैं तुम्हें सदा याद दिलाना चाहता हूँ कि यहाँ ये सारे विषय गौण हैं, मुख्य विषय धर्म ही है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, उसके बाद ही कुछ और है।[२२]

भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह दिखा दिया जाय कि उस नयी प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में किस प्रकार विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति का प्रचार करने के लिये हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा – आध्यात्मिक उन्नति – की इतनी अधिक पूर्ति हो सकेगी।[२३]

भूखे भजन न होत गोपाला

पहले रोटी और तब धर्म।[२४] वर्तमान हिन्दू समाज केवल उन्नत आध्यात्मिक लोगों के लिये ही गठित है, बाकी सबको वह निर्दयता से पीस डालता है। ऐसा क्यों? जो लोग थोड़ा-बहुत तुच्छ सांसारिक चीजों का भोग करना चाहते हैं, उनका क्या होगा? हमारा धर्म जैसे उत्तम, मध्यम और अधम – सभी तरह के अधिकारियों को अपने भीतर स्वीकार कर लेता है, वैसे ही हमारे समाज को भी उच्च-नीच सभी भाववाले लोगों को ले लेना होगा। इसके उपाय के रूप में पहले हमें अपने धर्म का यथार्थ तत्त्व समझना और तब उसे सामाजिक विषयों में लगाना होगा। यह बहुत ही धीरे-धीरे होनेवाला, पर ठोस काम है। इसे करते रहना होगा।[२५]

हमारे जो भाई अभी उच्चतम सत्य के योग्य नहीं हुये हैं, उनके लिये हल्का-सा भौतिकतावाद शायद हितकर हो; पर उसे अपनी जरूरत के अनुरूप ढालकर लेना होगा। सभी देशों और समाजों में एक भ्रम फैला हुआ है। विशेष दु:ख की बात तो यह है कि भारत में भी थोड़े दिन हुये पहली बार इस भ्रान्ति ने प्रवेश किया है और वह यह है कि अधिकारी का विचार किये बिना सबके लिये समान व्यवस्था देना। सच तो यह है कि सबके लिये एक मार्ग हो ही नहीं सकता। आवश्यक नहीं है कि मेरी पद्धति ही आपकी भी हो।[२६]

भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासिता की भी जरूरत होती है, क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि जो भगवान् मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वह स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा! राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का प्रसार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को दूर करना होगा। पुरोहित-प्रपंच और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान तक न रहे! सबके लिये अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक सुविधायें मिलती रहें।...

अपने धर्म पर अधिक बल और समाज को स्वाधीनता देते हुये हमें धीरे-धीरे यह अवस्था लानी होगी। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को उखाड़ दो, तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म प्राप्त हो जायेगा। मेरी बात समझते हो न? क्या तुम भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।[२७]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची – **१३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ११६; **१४.** वही, खण्ड ६, पृ. १३८; **१५.** वही, खण्ड २, पृ. ३२१; **१६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३१७; **१७.** वही, खण्ड ९, पृ. ३५३; **१८.** वही, खण्ड ५, पृ. १८१-८२ **१९.** वही, खण्ड ५, पृ. ११५-१६; **२०.** वही, खण्ड २, पृ. ३११; **२१.** वही, खण्ड ५, पृ. ७५-७६; **२२.** वही, खण्ड ५, पृ. १८३; **२३.** वही, खण्ड ५, पृ. ११६; **२४.** वही, खण्ड ५, पृ. ३२२; **२५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३१८; **२६.** वही, खण्ड ५, पृ. ४६; **२७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३४

श्री हनुमत्-चरित्र (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

महाबीर बिनवऊँ हनुमाना ।
राम जासु जस आप बखाना ।। १/१७/१०
प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर ।। १/१७

– मैं श्री महावीर हनुमानजी से विनती करता हूँ, जिनके यश का स्वयं श्रीराम ने ही बखान किया है। पवनपुत्र हनुमानजी को मेरा प्रणाम है, जो दुष्टरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान हैं और जिनके हृदयरूपी भवन में धनुष-बाण धारण किये श्रीराम निवास करते हैं।

श्रीहनुमान और भगवान राम के मिलन का वर्णन जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसमें कई बड़े महत्त्व के सन्देश और संकेत निहित हैं। एक प्रश्न इसे पढ़ने तथा सुननेवाले श्रोताओं के मन में आता है और यह प्रश्न महर्षि अगस्त्य के मन में भी आया था। वाल्मीकि रामायण में प्रसंग आता है कि भगवान राम के राज्याभिषेक के अवसर पर जब महर्षि अगस्त्य उनके पास आये, तो प्रभु ने उनसे पूछा कि मुझे तो लगता है कि हनुमानजी के समान अतुलित बलशाली और बुद्धिमान कोई हुआ ही नहीं, परन्तु यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे हनुमानजी के होते हुये भी सुग्रीव बालि के डर से भागता क्यों फिरा? प्रभु का तात्पर्य था कि बालि कोई हनुमानजी की अपेक्षा अधिक बलवान तो था नहीं, तो फिर इतने अतुलित बलशाली होते हुये भी हनुमानजी ने सुग्रीव की उससे रक्षा क्यों नहीं की? महर्षि अगत्स्य ने इसका एक उत्तर दिया। उसे यदि हम केवल स्थूल दृष्टि से देखें, तो अलग बात है, पर गहराई से उसके अर्थ पर विचार करें, तो उसमें एक बड़े ही महत्त्व का सूत्र मिलेगा। महर्षि अगत्स्य ने कहा कि मुनियों ने हनुमानजी को शाप दे दिया था, जिससे वे अपना बल भूले रहते थे। और इसीलिये बालि की अपेक्षा अधिक बलवान होते हुये भी, वे सुग्रीव की बालि से रक्षा नहीं करते हैं। बाद में जब हनुमानजी को उनके बल का स्मरण कराया गया, तो उनके द्वारा अनेकों महान् कार्य सम्पन्न हुए।

हनुमानजी को जो शाप था, उस पर आप जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें। इस शाप के सन्दर्भ में इसके एक बड़े महत्त्व -पूर्ण पक्ष की याद आती है। आप देखेंगे कि जिनकी भी हम पूजा-आराधना करते हैं, जो हमारे इष्टदेव हैं, उनमें से अधिकांश को कहीं-न-कहीं किसी के द्वारा शाप मिला था। स्वयं 'मानस' में ही बताया गया कि देवर्षि नारद ने भगवान को मनुष्य रूप ग्रहण करने का शाप दिया, जिसके फलस्वरूप भगवान ने मनुष्य के रूप में जन्म लिया, श्रीराम के रूप में अवतार लिया। तो यहाँ स्वयं ईश्वर ही शापग्रस्त दिखाई देता है और उन्हें शाप दिया था देवर्षि नारद जैसे महापुरुष ने।

हनुमानजी के विषय में भी यही बात है। उन्हें भी शाप दे दिया गया था। कथा आती है कि बचपन में वे बड़े चंचल और उपद्रवी थे। उनके द्वारा ऋषि-मुनियों की पूजा-उपासना में बाधा पड़ती थी। उन्होंने सोचा कि इसे शाप दे देना ही अच्छा होगा। तो हमारे इष्टदेव श्रीराम भी शापग्रस्त हैं और उनके महानतम भक्त हनुमानजी को भी शाप मिला हुआ है।

फिर जिन नल और नील के द्वारा समुद्र पर सेतु बनाया गया, उनके विषय में भी आपने सुना या पढ़ा होगा। ये नल और नील तो ऐसे उपद्रवी थे कि वे साधारण उपद्रव नहीं करते थे। ऋषि और मुनि जिस शालग्राम की पूजा करते थे, जिस शिवलिंग की पूजा करते थे, उसे उठाकर ये लोग ले जाते और नदी या कुँए में फेंक देते। ऋषि-मुनियों को बड़ा कष्ट हुआ। उन ऋषि-मुनियों ने उन्हें शाप दे दिया कि तुम लोग जिस पत्थर को डुबाओगे, वह जल में डूबेगा ही नहीं। उन्हें लगा कि ये बन्दर मूर्ति को उठाकर फेंके बिना तो रहेंगे नहीं, पर शाप का परिणाम यह होगा कि मूर्ति डूबेगी नहीं और तब उसे खोजना सरल हो जायेगा। इस प्रकार रामायण के इन महानतम पात्रों को शाप मिला हुआ है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि जिनकी हम राक्षस कहकर निन्दा करते हैं, उन सबको वरदान मिला हुआ है। रावण को भगवान शंकर से वरदान मिला हुआ है, मेघनाद को भी शक्ति से वरदान मिला है। अधिकांश राक्षसों को वरदान मिला है और जिनकी हम पूजा करते हैं, उन्हें शाप मिला है। यदि किसी से पूछा जाय कि आप शाप चाहते हैं या वरदान? तो वह यही कहेगा कि कौन शाप चाहेगा, हमें तो वरदान ही मिलना चाहिये। पर 'मानस' में सन्देश यह दिया गया है कि व्यक्ति यदि शाप का सदुपयोग कर सके, तो शाप भी वरदान

में परिणत हो सकता है। यह बड़े महत्त्व का सूत्र है।

इसीलिये जब रावण की मृत्यु नहीं हो रही थी, तभी विभीषणजी ने आकर भगवान से कहा – प्रभो, रावण एक बहुत बड़ा यज्ञ करने जा रहा है। प्रभु बोले – उसका परिणाम क्या होगा। विभीषण ने कहा – तब रावण की मृत्यु नहीं होगी। – तो तुम्हें यह सुनकर कैसा लगता है? इस पर विभीषण ने रावण के लिये एक शब्द कहा – अभागा –

नाथ करइ रावन एक जागा।
सिद्ध भयें नहिं मरिही अभागा ।। ६/८५/२

यदि यज्ञ पूरा हो जायेगा, तो वह अभागा मरेगा नहीं। प्रभु ने हँसकर कहा – यदि कोई न मरे, तो वह भाग्यशाली है या अभागा है? किसी की आयु लम्बी हो, तो लोग यही कहेंगे कि वह कितना भाग्यशाली है। परन्तु विभीषण कहते हैं कि वह कितना अभागा है कि वह मरेगा नहीं। प्रभु ने पूछा –तुम्हारा तात्पर्य क्या है? विभीषण बोले – "प्रभो, जिसके अमर होने से सारा संसार कष्ट और पीड़ा पाये और साथ-ही-साथ उसका जीवित रहना संसार के लिये दुखदाई हो। फिर आपके दर्शन के बाद भी जिसकी मुक्ति न हो और जीवित रह जाय, तो उसे हम अभागा छोड़कर और क्या मानेंगे!"

'राम-चरित-मानस' में भाग्य तथा अभाग्य की और शाप तथा वरदान की जो परिभाषा बताई गई, वह बड़ी अनोखी तथा सांकेतिक है। इन शापों के पीछे जो महानतम संकेत है, वह बड़े महत्त्व का है। देवर्षि नारद को ही लेते हैं। उनके मन में विकारों का उदय हुआ और तब उनमें विवाह की इच्छा उत्पन्न हुई। जब भगवान ने उनका विवाह नहीं होने दिया, तो वे क्रोध में भरकर भगवान को खोजने चले। वे चले जा रहे थे, तभी भगवान मार्ग में ही उनके सामने आकर खड़े हो गये। उन्हें देखते ही नारद क्रोध में भर उठे। उनके क्रोध का एक विशेष कारण भी था – भगवान जब नारद के सामने खड़े थे, तो उनके एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर वे ही विश्वमोहिनी थीं, जिनसे नारद विवाह करने को इच्छुक थे। नारद को लगा कि लक्ष्मीजी के रहते इन्हें तो विवाह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थीं। एक तो इन्होंने मेरा विवाह नहीं होने दिया और इतना ही नहीं, जिससे मैं विवाह करना चाहता था, उसी से खुद विवाह कर लिया। फिर ये इतने बुरे स्वभाव के हैं कि यदि विवाह कर भी लिया तो उसको मेरे सामने लेकर आने की क्या जरूरत थी? सामान्य रूप में आते तो भी ठीक था, लेकिन – एक ओर लक्ष्मी, दूसरी ओर विश्वमोहिनी और बीच में भगवान खड़े हैं। प्रभु ने नारदजी को प्रणाम करके पूछा – मुनिजी, कहाँ जा रहे हैं?

अब तो नारद के क्रोध का पारा एकदम चढ़ गया। – इतना सब होने के बाद भी ये ऐसे भोले बन रहे, मानो पता ही नहीं है कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। देवर्षि नारद को बहुत क्रोध आया और उन्होंने भगवान को उसी समय शाप दे दिया, परन्तु बाद में जब भगवान राम का सीताजी से वियोग हुआ, उस समय नारदजी फिर भगवान के पास आये और अपनी वीणा बजाते हुये आये। यदि कोई रो रहा हो और उस समय आप वाद्य लेकर गाते-बजाते हुये उसके सामने चले जायें, तो उसे कितना बुरा लगेगा! भगवान ने मुस्कुराते हुए उनका स्वागत किया और नारदजी ने पूछा – जब मैं विवाह करना चाहता था, तो आपने क्यों नहीं करने दिया?

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करे न दीन्हा ।। ३/४३/३

इसमें एक व्यंग्य भी था कि आपने स्वयं तो विवाह कर लिया और अपनी प्रिया से इतना प्रेम करते हैं कि उसके लिये रो भी रहे हैं, पर जब मैंने विवाह करना चाहा, तो आपने नहीं होने दिया। शंकरजी नहीं करना चाहते थे, तो आपने उनसे कहा कि करना पड़ेगा और मैंने करना चाहा तो कह दिया कि नहीं, यह नहीं होगा। यह आपका कैसा विचित्र न्याय है?

इस प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया। उन्होंने कहा – "नारद, ज्ञानी मेरा बड़ा और भक्त मेरा छोटा पुत्र है। भगवान शंकर ज्ञानमय हैं, इसलिये उसको मेरा बड़ा पुत्र समझ लो और तुम तो भक्त हो नन्हें-से बालक हो।

सुनु मुनि तोहि कहऊँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी ।।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई ।।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ।।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी ।। ३/४३/७

अब घर में यदि बड़ा पुत्र विवाह न करना चाहे, तो बहुधा माता-पिता उसे मनाते हैं कि विवाह कर लो। लेकिन जब एक नन्हा बच्चा विवाह का धूम-धाम देखता है, बारात देखता है, दूल्हे को देखता है, तो उसके मन में तो बेचैनी हो ही जाती है कि मेरा भी विवाह हो जाय, पर यह बताओ कि यदि वह छोटा बच्चा माँ-बाप से कहे कि मेरा विवाह कर दीजिये, तो क्या वे उसे होने देते हैं? तो शंकरजी का मैंने इसलिये होने दिया कि वे ज्ञानी थे, बड़े पुत्र थे और तुम मेरे छोटे पुत्र हो, अत: मैंने विवाह नहीं होने दिया।

प्रभु ने एक विनोद और किया। छोटे बच्चे तो किसी का विवाह देखकर चाहते हैं कि हमारा भी विवाह हो जाय, पर यदि उस बालक से पूछा जाय कि तुम किससे विवाह करना चाहते हो, तो उन बेचारों को पता तो होता नहीं कि विवाह

किससे किया जाता है और किससे नहीं किया जाता। वह तो परिवार के ही किसी को दिखाकर कह देता है कि मैं इसी से विवाह करना चाहता हूँ। तो इस पर आपको हँसी ही आती है कि बेचारे को पता नहीं कि विवाह किससे होता है और किससे नहीं होता। भगवान ने कहा – नारद, तुम छोटे बच्चे तो हो ही, और अब तो मुझे प्रमाण भी मिल गया। – किसा बात का? – जब मैंने तुमसे पूछा कि तुम किससे विवाह करना चाहते हो और मुझे पता चला कि तुम मेरी माया से ही विवाह करना चाहते हो, तो मैं समझ गया कि तुममें अब भी पूरा बचपना है, विवाह करोगे और वह भी मेरी माया से ! नारदजी ने प्रभु से जब पूछा कि वे रो क्यों रहे हैं? तो इसके उत्तर में प्रभु ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया। प्रभु बोले – बालक अपना हाथ आग में डाल रहा हो, तो बताओ माँ क्या करेगी? – माँ दौड़ेगी और उसके हाथ को पकड़ लेगी। प्रभु बोले – मान लो उस बालक के हाथ को बचाने की चेष्टा में माँ का ही हाथ झुलस जाय, तो माँ को तो कष्ट होगा ही। पर माँ का हाथ झुलस जाने के बाद क्या उस बालक को माँ से यह कहना चाहिये कि 'बड़ी बनती थी मुझे बचानेवाली ! अपना ही हाथ तो बचा नहीं पाई?' बल्कि बालक को तो यह सोचना चाहिये कि 'माँ मुझे कितना प्यार करती है, उसकी कितनी कृपालुता है कि उसने अपना हाथ जल जाने दिया, परन्तु मुझे जलने से बचा लिया।' प्रभु ने हँसकर यही कहा – नारद, याद करो, जब तुम क्रोध में भरे हुये आये थे, तब तुमने मुझ पर क्या-क्या आरोप नहीं लगा दिये थे !

अवतारवाद के जो अनेक कारण हैं और वे बहुत व्यापक हैं; उनमें से एक यह है कि ईश्वर मानो ऊपर है, वह ऊपर का लोक माना जाय, तो भी ऊपर है, यदि वह साकेत में, गोलोक में, बैकुण्ठ में हैं, तो भी ऊपर है। और यदि वेदान्त की दृष्टि से यह कहें कि वह नाम-रूप से ऊपर है, तो भी ऊपर है। नारदजी ने कहा था – "तुम तो संसार से ऊपर उठे हुये हो, लोगों के प्रति न्याय कर रहे हो, दूसरों के विषय में न्याय करते हो, परन्तु क्या कभी तुमने अपने विषय में भी कभी न्याय किया – तुम जो कुछ करते हो, वह सब क्या ठीक रहता है? और यदि ठीक नहीं रहता, तो तुम्हें क्या उसका दण्ड भी नहीं मिलना चाहिये? तुम तो बस यही कह कर छुट्टी पा लेते हो कि जिसने जैसा कर्म किया है वह वैसा फल पायेगा।" नारदजी बोले – "इसके लिये अब मैं तुम्हें सबक सिखाऊँगा। सुनो, तुमने जो भी किया, उस एक-एक के लिये मैं तुम्हें शाप दूँगा। तुमने मनुष्य बनकर मुझे ठग लिया, तो तुम्हें भी मनुष्य बनकर जन्म लेना होगा। तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया, तो तुम्हें भी पत्नी के वियोग में रोना पड़ेगा और तुमने मेरी आकृति को बन्दर का बना दिया, तो बन्दरों से ही तुम्हें सहायता लेनी पड़ेगी।"

नारदजी ने जब शाप दिया, तो यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि भगवान इस पर बड़े प्रसन्न लग रहे हैं। शाप सुनकर घबरानेवाले लोगों को तो नारद ने बहुत देखा था, पर शाप को सुनकर जो इतना प्रसन्न है और, इतना ही नहीं, वे बोल भी उठे – वाह वाह, धन्य है नारद, आप कैसे सन्त हैं, कितने उदार हृदय हैं, आपको तो शाप देना आता ही नहीं, आप शाप भी देंगे, तो भले के लिये ही देंगे –

श्राप सीस धरि हरषि हियँ
प्रभु बहु बिनती कीन्ह ।। १/१३७

बोले – "बुरा व्यक्ति यदि वरदान भी दे, तो उससे अहित ही होता है और तुम जो शाप दे रहे हो, यह शाप कहाँ हुआ ! तुमने तो मुझे वही बनने के लिये कहा, जो मुझे बनना आता है, तो तुमने मेरे लिये कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं की। और नारद, मैंने तुम्हें बन्दर का रूप दिया, तो यदि तुम कहते कि बन्दर तुम्हें बड़ा कष्ट देंगे, तो उसे मैं शाप मानता, पर तुम तो कह रहे हो कि बन्दर तुम्हें सहायता करेंगे, तो यह विचित्र बात है। तुम शाप दे रहे हो या वरदान?

नारदजी ने कहा – ठीक है, मेरे दोनों शापों की तो तुमने बड़ी सुन्दर व्याख्या कर ली; व्याख्या करने में तो तुम बड़े चतुर हो, पर याद रखो, मैंने कहा है कि तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया, तो पत्नी के वियोग में तुम्हें बड़ा दुःखी होना पड़ेगा। प्रभु हँसकर बोले – यहाँ भी तो तुम्हें शाप देना नहीं आया। – क्या? – तुम यदि कहते कि तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया है, तो तुम्हारा विवाह भी नहीं होगा; तब तो वह शाप होता। परन्तु तुमने कहा कि तुम्हें पत्नी के वियोग में रोना पड़ेगा, तो विवाह होने का वरदान तो तुमने दे ही दिया। अब विवाह तो मेरा होगा ही। मानो यही आनन्द लेने की वृत्ति है। **दुःख के चार कारण बताये गये हैं।** रामायण में कहा गया है कि रामराज्य में चार प्रकार के दुःख व्यक्ति के जीवन नहीं थे। और वे चार प्रकार के दुःख है – काल, कर्म, स्वभाव तथा गुणों से उत्पन्न होनेवाले दुःख –

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जगमाहिं ।
कालकर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।। ७/२१

कुछ दुःखों का सम्बन्ध काल से होता है। कुछ दुःखों का सम्बन्ध कर्म से होता है। कुछ दुःखों का सम्बन्ध गुण से होता है। परन्तु **दुःख का चौथा कारण बड़े महत्त्व का है और वह है – अपने स्वभाव के द्वारा प्राप्त होनेवाला दुःख।** तीसरा दुःख तो हम पर लाद दिया गया है, मगर चौथा दुःख हमारा अपना बनाया हुआ है। स्वभाव का दुःख क्या है? कुछ लोगों को देखिये तो जहाँ भी रहेंगे दुखी ही दुखी दिखाई देंगे। हर चीज की व्याख्या दुःख-ही-दुःख की करेंगे। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्ति दिखाई दे जाते हैं जो बहुत अच्छी घटना

की भी बुरी-से-बुरी व्याख्या कर लेते हैं।

एक उपाख्यान है। एक बड़े ही विद्वान् पण्डितजी थे, पर वे हर बात में असन्तुष्ट ही रहते थे और वे जो व्याख्या करते थे, उल्टी ही व्याख्या करते थे। लक्ष्मीजी से नहीं रहा गया। उन्होंने भगवान से कहा कि कम-से-कम हम लोग तो ऐसी सेवा करें कि पण्डितजी कोई कमी न निकाल सकें। भगवान विष्णु बोले – ठीक है, निमंत्रण दे दीजिये। पण्डितजी के आने पर लक्ष्मीजी और भगवान विष्णु ने मिलकर उनकी अच्छी-से-अच्छी सेवा की। बहुत दिन सेवा होने के बाद जब पण्डितजी विदा होने लगे, तो भगवान ने पूछा – आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ? पण्डितजी बोले – मैं क्या बताऊँ, लेकिन इतना अच्छा होना भी अच्छा नहीं है। यह लीजिये। उसका अभिप्राय है कि जो बुरा है, वह तो बुरा है ही, परन्तु इतना अच्छा होना भी क्या कोई अच्छी बात है! कोई-न-कोई कमी तो होनी ही चाहिये थी। जब कोई व्यक्ति ऐसी वृत्ति का हो, तो ऐसे दुःख को स्वभाव का ही बनाया हुआ दुःख कहेंगे। तो भगवान यही बताना चाहते हैं कि व्यक्ति अपने स्वभाव से दुःख को भी सुख में परिणत कर सकता है और सुख को दुःख में। नारदजी ने शाप दिया, पर भगवान ने उसे वरदान के रूप में लिया। नारदजी बोले – तुम तो सुख-दुःख से ऊपर हो, तुम्हारे सिर पर कोई नहीं है –

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम सोई ।। १/१३७/१

भगवान ने उनके शाप को शिरोधार्य किया और अपने चरित्र द्वारा उपदेश दिया कि **सामनेवाला भले ही दुःख दे रहा हो, पर उसमें दुःख लेना या सुख लेना, यह आपके अपने स्वभाव पर निर्भर है, आपके अपने विवेक पर निर्भर है।** इसीलिये जब नारदजी ने कहा कि आप पत्नी के वियोग में रो रहे हैं, तो भगवान बोले – "नारद, जैसे बच्चे के हाथ को बचाने के लिये माँ का हाथ झुलस गया हो, वैसे ही तुम्हें बचाने में हमें यह शाप मिला है। तुम्हें यही याद आना चाहिये कि यह जो कुछ हुआ, वह तुम्हारी रक्षा के लिये ही प्रयत्न करते हुये हुआ।"

नारद का वह शाप कितना मंगलकारी हुआ। उसी के कारण ईश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया। ईश्वर ने मनुष्य की समस्याओं को मानवीय दृष्टि से देखा, मानवीय दृष्टि से समझा। यह बड़े महत्त्व का सूत्र है।

अवतार का अभिप्राय क्या है? प्रभु के मिलन के सन्दर्भ में भी यही सूत्र है। हनुमानजी के सन्दर्भ में बात कही जा रही थी कि सुग्रीव ने जब भगवान राम और लक्ष्मण को देखा, तो उन्हें लगा कि ये लोग बालि के भेजे हुए हैं और मुझे मारने के लिये आ रहे हैं। उन्होंने हनुमानजी से कहा – आप जरा ब्राह्मण का वेश बनाकर जाइये और उनको पहचानने के बाद वहीं से मुझे संकेत कीजिये। हनुमानजी ने ब्राह्मण का वेश बनाया। यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है कि **वैसे तो हनुमानजी में असंख्य गुण हैं, पर उनके जीवन का सबसे बड़ा व्रत सेवा ही है।** सेवा करनी थी, इसीलिये उन्होंने मनुष्य के रूप में और अयोध्या में जन्म नहीं लिया। अन्य भक्तों ने जैसे जन्म लिया, वैसा जन्म श्रीहनुमानजी का नहीं हुआ। भगवान शंकर ने क्यों बन्दर के रूप में जन्म लिया?

इसका एक सूत्र है और वह यह कि सेवा करनेवाला जब किसी विशेष वर्ण में जन्म लेता है, तो उसके साथ एक बहुत बड़ी समस्या जुड़ जाती है। मैं आशा करता हूँ कि आप इस पक्ष पर अवश्य ध्यान देंगे। वैसे प्रत्येक वर्णवाले व्यक्ति के द्वारा कुछ-न-कुछ सेवा तो होती है, परन्तु हम लोगों के जीवन में वर्ण-धर्म का पालन उतना नहीं हो पाता, जितना कि वर्ण का अभिमान हो जाता है। यह एक बड़ी विडम्बना है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शुद्र हूँ – इस बात पर अभिमान करनेवाले व्यक्ति तो मिलेंगे, परन्तु उस अभिमान का परिणाम केवल यह तो नहीं होना चाहिये कि उस अभिमान में यह मान लें कि हम ब्राह्मण हैं तो सर्वश्रेष्ठ हैं। तब तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य की दूसरी कोई बात नहीं होगी। वर्ण के द्वारा व्यक्ति जब धर्म का पालन करे, तब तो वह कल्याणकारी है, परन्तु बड़ी समस्या तब होती है, जब व्यक्ति वर्ण का अभिमान पाल ले। तब तो वह संघर्ष का ही कारण बनेगा, झगड़े का ही कारण बनेगा। आज का युग हो या पुरातन युग – यह बात सर्वत्र दिखाई देती है। वर्ण के नाम पर, जाति के नाम पर कितने संघर्ष होते हैं। परशुरामजी के प्रसंग में भी यह बात सांकेतिक रूप से आती है। उन्हें भी हम भगवान का एक अवतार मानते हैं। परन्तु दोनों अवतारों में एक सांकेतिक अन्तर है। एक भगवान के होते हुये भी दूसरे भगवान को क्यों आना पड़ा? एक राम के होते हुये भी दूसरे राम को क्यों आना पड़ा? संयोग ऐसा है कि दोनों के नाम भी एक ही हैं। यह प्रसंग इतना दार्शनिक है, इतना गम्भीर है कि साधारणतया लोग इसके सही अर्थ को समझ ही नहीं पाते। उत्तरप्रदेश, बिहार तथा मध्यप्रदेश की रामलीलाओं में जिस दिन परशुरामजी से लक्ष्मणजी के वार्तालाप का प्रसंग होता है, उस दिन जितनी भीड़ उमड़ पड़ती है, वह आश्चर्यजनक होती है।

मुझे स्मरण आता है। मुझे वृन्दावन में रहने का सुअवसर मिला था। वहाँ रामलीला चल रही थी। जिस दिन लक्ष्मणजी और परशुरामजी का संवाद हुआ, उस दिन आश्रम भीड़ से पूरा खचाखच भरा हुआ था। भीड़ को देखकर बहुधा अयोजकों को प्रसन्नता होती है, परन्तु सन्त की दृष्टि तो भिन्न होती है। ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी ने मुझसे कहा – आज की

भीड़ देखकर मुझे बड़ी निराशा हो रही है। – क्यों? बोले – कल भी रामलीला थी और कल भी रामलीला होगी, पर आज भीड़ अधिक क्यों है? उनका अभिप्राय था कि रामलीला में भी लोगों को उसी दिन अधिक आनन्द आता है, जिस दिन तू-तू, मैं-मैं हो, झगड़ा हो। लोग रामलीला देखने नहीं, झगड़ा देखने ही आते हैं। तो बहुधा हम अपनी दृष्टि से समझ लेते हैं कि यह संवाद तो बड़ा मनोरंजक है। वाह, परशुरामजी ने क्या बात कही और लक्ष्मणजी ने क्या ईंट का जवाब पत्थर से दिया! बड़ा आनन्द आता है। परन्तु वह रामायण में थोड़े ही लिखा हुआ है, मैंने तो देखा है उत्तर-प्रदेश में तो कभी-कभी रात भर लक्ष्मण और परशुरामजी की 'तू-तू', 'मैं-मैं' चलती रहती है। उसके लिये इतने सवैये और पंक्तियाँ गढ़ ली गई हैं कि समाप्त होना का ही नाम नहीं लेतीं। और दर्शक बैठकर उनका पूरा आनन्द लेते हैं।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। वह तो राम-का-राम से संवाद है। दो राम! और इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि राम ही मानो राम को नहीं पहचान पाये। राम और राम के बीच तो संघर्ष नहीं होना चाहिये। यदि रावण निशाचर है और श्रीराम का जन्म सूर्यवंश में हुआ है, तो प्रकाश और अन्धकार का झगड़ा तो समझ में आता है, लेकिन राम का राम से जो विवाद हुआ, यह विवाद तो कुछ विचित्र-सा – अटपटा-सा लगता है। यह एक बड़ा ही विस्तृत और सुन्दर दार्शनिक प्रसंग है। इसमें केवल एक सूत्र ही मैं दे दूँ।

इन दोनों रामों में से एक ने जन्म लिया ब्राह्मण कुल में और दूसरे ने जन्म लिया क्षत्रिय कुल में। प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का भी जाति-वर्ण होता है? ईश्वर का कोई जाति-वर्ण नहीं होता; क्योंकि ईश्वर यदि मछली के रूप में जन्म ले, कछुए के रूप में जन्म ले, सूकर के रूप में जन्म ले, तो उसका कोई वर्ण नहीं हो सकता। परन्तु जब वह मनुष्य के रूप में अवतरित होगा, तो किसी-न-किसी वर्ण में ही तो जन्म लेगा। यहाँ एक बड़ा सूक्ष्म सूत्र है। जब परशुरामजी श्रीराम से बातचीत करते हैं, तो उसमें एक ऐसा अवसर आया जब उन्होंने कहा – तुम पहले मेरा परिचय सुन लो। उसके बाद विश्वामित्रजी से कह दिया कि पहले इस लक्ष्मण को मेरा पुराना इतिहास सुना दो, यह शायद जानता नहीं है। यदि इसे बचाना चाहते हो, तो इसे हमारा प्रताप, बल तथा क्रोध आदि बताकर मना कर दो –

तुम हटकहु जौं चहहु उबारा।
कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा।। १/२७४/४

लक्ष्मणजी वहाँ भी नहीं चूके। बोले – आप स्वयं अपने मुख से काफी कुछ कह चुके, कुछ बाकी रहा हो, तो वह भी कह लीजिये, हमारे गुरुजी को वृथा कष्ट क्यों दे रहे हैं?

परशुरामजी ने श्रीराम को अपना परिचय देते हुये कहा – "याद रखना कि मैं 'बाल-ब्रह्मचारी' हूँ। जरा सोचो, यह कितनी लज्जा की बात है, तुम विवाह के लिये आये हुये राम हो और मैं बाल-ब्रह्मचारी राम! तुम क्षत्रिय राम और मैं ब्राह्मण राम! मैं कभी राज-सिंहासन पर नहीं बैठा और तुम राज्य के उत्तराधिकारी हो। मेरी तुम्हारी कोई तुलना नहीं है, तो तुमने अपना नाम 'राम' कैसे रख लिया?"

फिर बोले – याद रखो, मैं ब्रह्मचारी तो हूँ ही, साथ ही बता देता हूँ कि मैं क्रोधी भी बहुत हूँ। और संसार में प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मैं क्षत्रिय-कुल का द्रोही हूँ –

बिस्व बिदित छत्रियकुल द्रोही।। १/२७२/६

उनको यह लग रहा था कि नया राम कहाँ से आ गया? और उन्होंने प्रस्ताव भी राम से यही किया था – यदि तुम चाहते हो कि झगड़ा मिट जाय, तो उसका एक ही उपाय है – तुमने जो अपना यह 'राम' नाम रख लिया है, उसे छोड़ दो। इस पर प्रभु ने मुस्कुराकर कहा – यह नाम मैंने तो नहीं रखा। मैंने थोड़े ही कहा कि मेरा नाम राम है और लोग मुझे राम कहकर पुकारें। पर परशुराम यही बोले – या तो मुझसे युद्ध करो और नहीं तो आज से अपना राम नाम छोड़ दो –

करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।। १/२८१/२

परशुरामजी जब यह सब कह रहे थे, तो क्या यह ईश्वर की भाषा थी? क्या ईश्वर भी किसी का पक्षपाती और किसी का द्रोही होता है? बस, इस भेद को आप समझ लीजिए।

❖ (क्रमशः) ❖
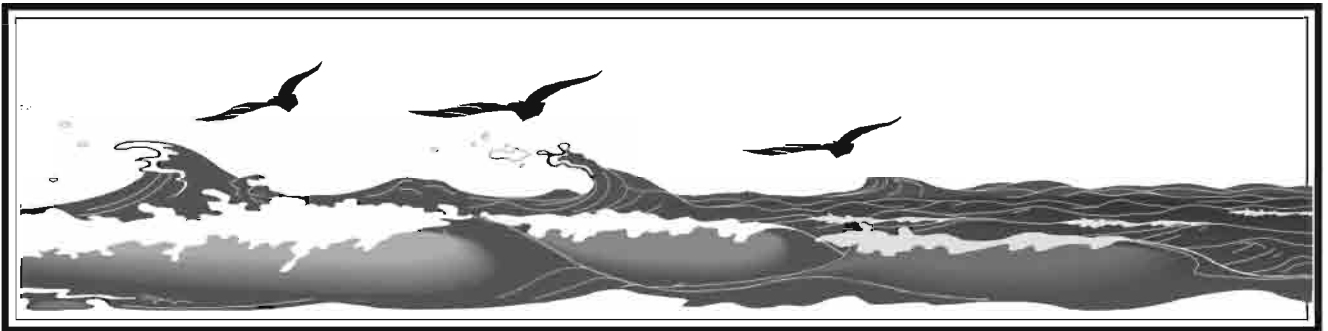
परम पुरुषार्थ है मोक्ष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

धर्मग्रन्थों में मोक्ष की बात कही गयी है। मोक्ष को जीवन के परम प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में चार पुरुषार्थ माने गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस प्रकार मोक्ष को चार पुरुषार्थों में प्रमुख तथा अन्य तीन पुरुषार्थों द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य के रूप में माना गया है।

वैसे मोक्ष का सरल अर्थ होता है मुक्ति। पर प्रश्न उठता है कि किससे मुक्ति? हमें किसने बाँध रखा है, जिससे हम मुक्ति चाहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि हमें हमारी इन्द्रियों ने, हमारे मन ने बाँध रखा है। हम इन्द्रियों के गुलाम बन गये हैं। मन हमें जिधर चाहता है, नचाता रहता है। देह और मन की गुलामी को ही बन्धन माना गया है। इस बन्धन का हटना ही मोक्ष कहलाता है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य देह और मन का गुलाम क्यों हो गया है? इसलिए कि वह अपनी आत्मस्वरूपता को भूल गया है। उसने यह तथ्य विस्मृत कर दिया है कि वह आत्मा है। अपनी आत्मस्वरूपता को जगाने के लिए मनुष्य को विचार करना पड़ता है कि मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ। देह सतत परिवर्तित हो रही है। वह चेतन नहीं हो सकती, वह मात्र जड़ है। चेतन वह है, जो इस परिवर्तन का अनुभव करता है। देह और मन सतत परिवर्तनशील होने के कारण जड़ हैं। मनुष्य के भीतर का जो चेतन तत्त्व देह और मन के परिवर्तनों का अनुभव करता है, उसी को आत्मा कहते हैं। मनुष्य जब एवंविध विवेक-विचार के द्वारा अपने को देह-मन से भिन्न आत्मतत्त्व के रूप में अनुभव करता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है - **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** – अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। संसार की आसक्ति में पड़ा हुआ मन बन्धन का कारण है, पर संसार के भोगों से अनासक्त हुआ मन मोक्ष का कारण बन जाता है।

प्रश्न उठता है कि मन को अनासक्त कैसे बनावें? हम पहले कह चुके हैं कि धर्म और मोक्ष के समान अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ माना गया है। हमने अर्थ और काम को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा है, उनकी अवहेलना नहीं की है, अपितु उनकी शक्ति को, महत्त्व को स्वीकार किया है। 'अर्थ' का तात्पर्य है सत्ता और 'काम' सृष्टि का बीज है। मनुष्य में अर्थ और काम की वृत्तियाँ रूढ़ हैं। ये मनुष्य को दलदल में भी फँसा सकती हैं तथा मुक्त गगन में भी उड़ा सकती हैं। जब मनुष्य केवल देह के धरातल पर ही अर्थ और काम का उपभोग करता है, तो मानो वह संसार-कीच में फँस जाता है, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों का नियत्रंण करते हुए उन दोनों का उपभोग करता है, तो मोक्ष के उन्मुक्त गगन की ओर उड़ चलता है। अर्थ और काम का प्रवाह उद्दाम है। यदि प्रवाह पर रोक न लगे, तो वह अनियंत्रित रूप से फैलकर, प्लावन का रूप धारण कर कितने ही गाँवों को डुबाकर नष्ट कर देता है। पर जब उसी नदी पर बाँध बाँधा जाता है, तो वही जल नियत्रंण में आकर लोगों के अशेष कल्याण का हेतु बन जाता है।

इसी प्रकार यदि अर्थ और काम की वृत्तियाँ अनियंत्रित हों, तो वे मनुष्य का नाश कर देती हैं, पर जब धर्म के द्वारा उन दोनों को अंकुश में रखा जाता है, तो वे ही मनुष्य को मोक्ष की ओर बहा ले चलती हैं।

स्वामी विवेकानन्द मोक्ष को निःस्वार्थता के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है, जो पूरी तरह से निःस्वार्थ है। व्यक्ति में तनिक सा भी स्वार्थ के रहते वह मोक्ष से दूर है।

वे निःस्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। जिसमें निःस्वार्थता जितनी अधिक है, वह उतनी ही मात्रा में धार्मिक है और वह उतना ही अधिक मोक्ष के रास्ते पर जायेगा। मोक्ष का फल मनुष्य को इसी जीवन में अनुपम आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। देह, इन्द्रिय और मन की दासता से मुक्त हो उन्हीं को अपना दास बना लेना और अपनी इच्छा के अनुसार उनका परिचालन करना - यही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ फल है। ❑❑❑

भागवत की कथाएँ (९)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

दुष्यन्त-शकुन्तला

शुकदेव ने राजा परीक्षित से कहा – आपने जिस वंश में जन्म ग्रहण किया है, उसी पुरुवंश में एक प्रबल पराक्रमी राजा ने जन्म लिया था। उनका नाम दुष्यन्त था। एक दिन वे अपने अनुचरों को साथ लेकर शिकार करने निकले और क्रमश: कण्व मुनि के आश्रम में जा पहुँचे। इस आश्रम में सभी सुन्दर लक्षणों से युक्त एक कन्या लक्ष्मी की भाँति अपने लावण्य के आलोक से चारों दिशाओं को आलोकित करती हुई बैठी थीं। दुष्यन्त को उस कन्या के साथ वार्तालाप करने से पता चला कि उनका नाम शकुन्तला था। वे विश्वामित्र की पुत्री थीं। कण्व मुनि के स्नेह-सेवा से उनके आश्रम में वे लालित-पालित हुई थीं। कन्या की सहमति से राजा दुष्यन्त ने गान्धर्व रीति से शकुन्तला का पाणिग्रहण किया। अगले दिन दुष्यन्त अपनी राजधानी चले गए।

कालक्रम से शकुन्तला ने एक पुत्र को जन्म दिया। महर्षि कण्व की देखरेख में शकुन्तला के पुत्र भरत बड़े होने लगे। भरत क्रमश: इतने बलवान हो गये कि वे सिंह-शावक के साथ खेला करते थे। कुछ दिनों के बाद शकुन्तला अपने पुत्र को लेकर दुष्यन्त के पास गयीं। परन्तु राजा दुष्यन्त सब कुछ भूल चुके थे। उन्होंने अपनी विवाहिता पत्नी शकुन्तला या पुत्र भरत को स्वीकार नहीं किया। उसी समय आकाश-वाणी हुई – "हे दुष्यन्त! भरत तुम्हारा ही पुत्र है। तुम्हारी आत्मा ही पुत्र के रूप में इससे उत्पन्न हुई है। अपने पुत्र को ग्रहण करो – शकुन्तला का तिरस्कार मत करो।" राजा दुष्यन्त ने अपनी भूल समझ ली और पत्नी तथा पुत्र को स्वीकार किया।

दुष्यन्त के स्वर्गवासी होने के बाद उनके पुत्र भरत ही इस भारतभूमि के सम्राट् हुए।

रन्तिदेव की अतिथि-सेवा

(अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ हैं। इनके द्वारा मनुष्य काफी धन-सम्पदा पा सकता है। रन्तिदेव ईश्वर से कहते हैं – मैं अणिमा आदि सिद्धियाँ नहीं चाहता, मुक्ति की भी कामना नहीं करता; मैं प्रार्थना करता हूँ कि जीवों के भीतर के दु:खों का अनुभव कर सकूँ। छोटे-बड़े सभी जीवों के दु:खों को दूर करना ही मेरा प्रयास होगा।)

रन्तिदेव के पास काफी धन-सम्पत्ति थी। दूसरों का दु:ख देखने पर वे अपना धन देकर उसके दु:ख को दूर करने की चेष्टा किया करते थे। दान करते-करते एक बार उनकी सारी सम्पत्ति समाप्त हो गयी। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि उनका अपना खाना ही नहीं जुट पाता था। वे सपरिवार कई दिनों से निराहार थे। इसी तरह अड़तालिस दिन बीत गए। भूख-प्यास से सभी आकुल थे और वे स्वयं भी बहुत दुर्बल हो गए थे। तभी भगवान की अपार कृपा से सहसा एक व्यक्ति दाल-भात-सब्जी-खीर आदि अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थ ले आया; उसके साथ ही वह पीने का शीतल जल भी ले आया। परिवार के सभी सदस्यों का चेहरा खिल उठा।

रन्तिदेव और उनके परिवार के सभी लोग खाने के लिए बैठने ही वाले थे, तभी द्वार पर एक ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचे। वे भूख से पीड़ित थे; अत: उन्होंने भोजन माँगा। रन्तिदेव ने खूब श्रद्धापूर्वक अतिथि को भोजन कराया। इसके बाद बचे हुए भोजन का घर के लोगों में बँटवारा करके स्वयं खाने को बैठने ही वाले थे कि तभी एक अन्य अतिथि आ पहुँचे। उन्होंने कई दिनों से खाया नहीं था। रन्तिदेव का भी तो बहुत दिनों से खाना-पीना नहीं हुआ था। परन्तु उन्होंने मना नहीं किया। वे श्रीहरि के भक्त थे और सभी जीवों में उनके श्रीहरि विराजते हैं। श्रीहरि को वे 'ना' कैसे करेंगे! हरि का स्मरण कर उन्होंने अपने हिस्से के भोजन से थोड़ा-सा इन अतिथि को दिया। अतिथिदेव ने परम तृप्ति के साथ भोजन किया तथा रन्तिदेव की खूब प्रशंसा करते हुए विदा ली। तभी इधर-उधर भटकनेवाला एक राही कई कुत्तों को लिए हुए रन्तिदेव के सामने आकर निवेदन करते हुए बोला – मैं भूख से पीड़ित हूँ और मेरे कुत्तों को भी बहुत दिनों से कुछ खाना नहीं मिला। हम सबको कुछ खिलाइये। रन्तिदेव के पास तब भी थोड़ी-सी भात-सब्जी बची हुई थी। वह सब उन्होंने आगन्तुक तथा कुत्तों को देकर उन्हें श्रीहरि के भाव से प्रणाम किया। रन्तिदेव के पास तब खाने के लिए कुछ भी नहीं बचा। केवल थोड़ा पीने का पानी बचा था। वे मन-ही-मन सोचते हैं – यह थोड़ा-सा पानी पीकर वे आज अपने प्राणों की रक्षा करेंगे।

उसी समय एक चाण्डाल ने उनके सामने आकर कहा – मैं बहुत थका-माँदा हूँ, प्यास से मेरे प्राण निकल रहे हैं। मैं

१. महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में कथा कुछ भिन्न प्रकार की है।

चाण्डाल हूँ। अपावन होने के कारण कोई मुझे पानी देना नहीं चाहता। आप मुझे पीने को थोड़ा पानी दें। चाण्डाल की बात पर रन्तिदेव ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, वह तुम्हें अवश्य मिलेगा। तब वे सोचते हैं, मैं ईश्वर से अणिमा आदि अष्टसिद्धि[१] नहीं चाहता, मुक्ति की भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ कि सबके हृदय में रहकर सबके दु:ख को बाँट सकूँ। मेरे द्वारा मानो सभी प्राणियों का दु:ख दूर हो।[२] मैं भगवान के चरणों में इन दीनजनों के जीवन की रक्षा करने की कामना ही करता हूँ। मेरे पास जो भी थोड़ा-सा पीने का जल है, उसे मैं इस चण्डाल को देना चाहता हूँ। भूख-प्यास से रन्तिदेव के प्राण निकलने को आ गये थे, तो भी उन्होंने उस चाण्डाल को अपने पीने का जल दे दिया।

अब तक ब्राह्मण, चाण्डाल आदि के छद्मवेश में देवता-गण रन्तिदेव की परीक्षा ले रहे थे। वे लोग अब अपने वास्तविक रूप में आ गये। उन लोगों ने रन्तिदेव से कहा – आपके धैर्य की परीक्षा लेने के लिए ही श्रीहरि ने हम सबको यहाँ छद्मवेश में भेजा था।

राजा रन्तिदेव ने उन देवताओं को प्रणाम करके और सभी कामनाओं से मुक्त होकर भगवान वासुदेव को अपना हृदय समर्पित किया। उनके मन में ईश्वर के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं थी। देवतागण रन्तिदेव की महिमा का गुणगान करते हुए स्वर्गलोक चले गए।

दशम स्कन्ध

श्रीकृष्ण का जन्म

(परीक्षित आसन्न मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। शुकदेव उन्हें भागवत की कथा सुना रहे हैं। अब श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया जा रहा है।)

परीक्षित शुकदेव को कहते हैं – मैं आपके मुख-कमल से अमृत-पान कर रहा हूँ। आप जो हरिकथा कह रहे हैं, वह मेरे लिये अमृत के समान है। मैंने उपवास किया है, जल भी नहीं पी रहा हूँ। तथापि मुझे कोई कष्ट नहीं हो रहा है। आप श्रीकृष्ण के जन्म तथा लीला की कथा विस्तारपूर्वक कहिये।

तब शुकदेव बोले – वासुदेव कृष्ण की कथा में आपका अनुराग देखकर मुझे परम प्रसन्नता हो रही है। फिर जो कृष्ण की कथा कहता है, उसे भी तो महालाभ होता है। गंगाजल जिस प्रकार सबको पवित्र करता है, उसी प्रकार जो वासुदेव की कथा कहता है, वह भी पवित्र होता है। कृष्ण की कथा वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ता सबको शुद्ध करती है।[३]

एक दिन पृथ्वी ने गौ का रूप धारण किया और ब्रह्मा के पास जाकर उनसे अपने दु:ख-कष्ट की बात कही – ''मैं हिंसा से उन्मत्त सैकड़ों राजाओं तथा उनके दानव सैन्यकुल के भार से दबी जा रही हूँ। इस बोझ को सहने में अब मैं और समर्थ नहीं हो पा रही हूँ। आप इसका प्रतिकार करें।''

पृथ्वी का करुण क्रन्दन सुनकर ब्रह्माजी योग-ध्यान के बल से परम पुरुष के शरणागत हुए। उन्हें आदेश मिला – पृथ्वी के इस दु:ख की बात भगवान को पहले से ही ज्ञात हो गई है। वे शीघ्र ही अवतार लेकर वसुदेव के घर में जन्म लेंगे। इस बीच देवतागण अपनी-अपनी पत्नी के साथ मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करेंगे। पहले सहस्रशीर्ष शेषनाग अवतरित होंगे। भगवती, जिनकी माया से यह संसार मोहित है, वे भी भगवान के आदेश से संसार में अवतरित होंगी।

मथुरा के यदुवंश में वसुदेव का जन्म हुआ। उनका कंस की बहन देवकी के साथ विवाह हुआ। विवाह के बाद कंस नाना प्रकार के उपहारों के साथ अपनी बहन देवकी को बैठा कर रथ चला रहा था। तभी आकाशवाणी हुई – तुम जिसे रथ में ले जा रहे हो, उसी देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होनेवाली सन्तान के द्वारा तुम्हारा वध होगा। कंस तत्काल तलवार निकालकर देवकी का वध करने को तैयार हुआ। वसुदेव कंस से बोले – ''देवकी तो तुम्हारी हत्या करेगी नहीं, यदि आकाशवाणी सच हो, तो भी देवकी की आठवीं सन्तान तुम्हारा प्राणहरण करेगी। इसलिये बहन का वध करके तुम अपने सिर पर स्त्री-हत्या का पाप क्यों लोगे? मैं वचन देता हूँ कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न सभी सन्तानों को मैं तुम्हारे हाथों में सौंप दूँगा, फिर तुम्हारी जो इच्छा हो, सो करना।'' इससे अपने को निरापद मानकर कंस अपनी बहन की हत्या करने से विरत हो गया।

परन्तु कंस को प्राण की आशंका मिटी नहीं। शत्रु को जीवित छोड़ना ठीक नहीं है। इसीलिये कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागार में बन्द करके रखा। देवकी को एक-एक सन्तान होती, कंस उन सबका वध कर देता। कंस बड़ा उद्दण्ड था। वह अपने पिता उग्रसेन को कारागार में बन्द कर स्वयं सिंहासन पर बैठ गया था। उसके भय से यदुवंश के दल-के-दल लोग कुरु, पांचाल आदि राज्यों में भाग गये थे। इधर देवकी की सातवीं सन्तान बलराम के जन्म का समय हुआ। तब भगवान ने योगमाया को आदेश दिया – ''देवी ! तुम भ्रूणरूपी अनन्त (शेष) को रोहिणी के गर्भ में स्थापित कर दो। तदुपरान्त मैं देवकी का पुत्र होकर जन्म लूँगा। और

१. अष्टसिद्धियाँ : अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायित्व।

२. न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्धियुक्ताम् पुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिल-देह-भाजामन्त: स्थितो येन भवन्त्यदु:खा:॥ ९/२१/१२

३. वासुदेवकथा प्रश्न: पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं प्रच्छकं श्रोतृं तत्पादसलिलं यथा॥ १०/१/१६

तुम यशोदा की पुत्री होओगी।'' योगमाया ने वैसा ही किया। व्रजभूमि में रोहिणी के गर्भ से बलराम का जन्म हुआ।

इसके बाद एक मंगलमय मुहुर्त में कंस के कारागार में भगवान श्रीकृष्ण ने देवकी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। वसुदेव और देवकी ने देखा कि साक्षात् विष्णु ही अपने हाथों में शंख-चक्र-गदा-पद्म लिये उनके कारागार को आलोकित कर रहे हैं। दोनों उनकी स्तुतियाँ करने लगे। उनके स्तवन से प्रसन्न हो भगवान बोले – मैं तुम लोगों के पास पुत्र के रूप में इसके पूर्व भी दो बार आ चुका हूँ – पहली बार पृश्निगर्भ तथा दूसरी बार वामन के रूप में। तुम लोग ब्रह्मभाव से अथवा पुत्रभाव से भी केवल एक बार मेरा ध्यान-चिन्तन करने पर ही परम गति प्राप्त करोगे। यह कहकर उन्होंने साधारण मानव-शिशु का रूप धारण कर लिया।

भगवान मनुष्य का रूप धारण करके इस प्रकार धराधाम पर अवतीर्ण हुए। परन्तु वे शिशु थे। पिता वसुदेव उनकी रक्षा करने के लिये देवताओं के आदेश से उन्हें लेकर व्रज-धाम चले। प्रचण्ड वर्षा होने पर भी उन्होंने यमुना को पार किया। अनन्त-नाग छत्र के समान बालक की रक्षा करते हुए चले। इधर व्रजधाम में यशोदा की गोद को आलोकित करते हुए नन्द राजा की पुत्री के रूप में योगमाया ने जन्म लिया। यशोदा नींद में बेसुध थीं। वसुदेव उनकी गोद में पुत्र को रख कर कन्या योगमाया को ले आये तथा वापस आकर कारागार में देवकी की गोद में रख दिया। महामाया की ऐसी माया थी कि कोई भी इस बात को जान नहीं सका। द्वारपाल लोग भी गहरी निद्रा में बेसुध थे; सहसा उनकी नींद टूटी। बच्चे का रोना सुनकर सन्तरियों ने जाकर कंस को सूचित किया। निष्ठुर कंस आकर इस कन्या को ले गया और ज्योंही उसे एक पत्थर पर पटका, त्योंही उस शिशु ने अष्टभुजा मूर्ति धारण करके गम्भीर स्वर में कहा – मेरी हत्या करने से तुम्हें क्या लाभ होगा! तुम्हारा नाश करनेवाले ने अन्यत्र जन्म ले लिया है। अकारण ही अन्य शिशुओं की हत्या मत करो।

पूतना-वध

कंस यह सोचकर अशान्त हो उठा कि मेरा शत्रु रहता कहाँ है? उस बच्चे को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते राक्षसी पूतना को नन्द राजा के घर नवजात शिशु की सूचना मिली। उसने सुन्दर वस्त्रों से सज्जित नारी का रूप धारण किया और नन्द के घर में घुसकर बच्चे को दुलार करने लगी। पूतना के स्तन में विष था। इस विष को पिलाकर वह अनेक शिशुओं को मार चुकी थी। उसने सोचा कि यह विषयुक्त स्तन बालक कृष्ण के मुख में डाल देने से बालक तत्काल मर जाएगा।

परन्तु उलटे पूतना स्वयं ही संकट में फँस गयी। बालक श्रीकृष्ण पूतना की छाती पर चढ़कर उसका स्तन पीने लगे। दूध के साथ ही उन्होंने राक्षसी के प्राणों को भी खींच लिया। राक्षसी पूतना का विशाल मृत शरीर पड़ा रह गया। व्रजभूमि में हलचल मच गयी। इस दृश्य को देखकर गोपियाँ स्तम्भित रह गयीं। पूतना के विशाल शरीर को काट-काट कर उसे आग में डाल दिया गया। आश्चर्य की बात – चिता के धुँए से सुगन्ध निकलने लगी। लोग कहने लगे – श्रीकृष्ण को स्तन पिलाने तथा उनके चरण-स्पर्श से पूतना के सारे पाप मिट गए। राक्षसी को श्रीकृष्ण की माँ के समान गति मिली।

इसके कुछ दिनों के बाद कंस ने श्रीकृष्ण को मारने के लिए तृणावर्त नामक एक राक्षस को भेजा था। बालक कृष्ण के हाथों उसकी भी मृत्यु हुई।

यशोदा का विश्वरूप-दर्शन

गोपाल श्रीकृष्ण की ऐसी अनेक अद्भुत लीलाएँ होने लगीं, जिनकी बुद्धि के द्वारा व्याख्या नहीं हो पाती थी। गोप-गोपियाँ आश्चर्यचकित होते, बीच-बीच में माँ यशोदा विचलित हो उठतीं और फिर सब कुछ भूल जातीं। पड़ोस की गोपियाँ आकर शिकायत करतीं – तुम्हारा गोपाल उधम करता है; बछड़ों को खुला छोड़कर गाय का दूध पिलवा देता है। बड़ी चालाकी से दूध, पनीर, मक्खन आदि चुराकर स्वयं खाता है, मित्रों में बाँट देता है, बन्दरों को खिला देता है और हम लोगों की चोटियाँ तथा आँचल पकड़ कर खींचने लगता है। कुछ कहने पर हमारी खैर ही नहीं, हम लोगों को खरी-खोटी सुना देता है। यशोदा केवल हँस देतीं, गोपाल को कुछ कहती नहीं, क्योंकि माँ यशोदा का अपना भी यही अनुभव था। माखनचोर (कृष्ण) को वे भलीभाँति पहचानती थीं।

कृष्ण और बलराम धीरे-धीरे बड़े होने लगे। एक दिन बलराम तथा अन्य ग्वाल-बालों ने दौड़ते हुए आकर यशोदा मैया को बताया – "देखो, देखो, कृष्ण ने मिट्टी खायी है।"

कृष्ण बोले – "नहीं माँ, मैंने मिट्टी नहीं खायी है। ये सभी लोग झूठमूठ मेरा नाम लगा रहे हैं। मैं मुँह खोलता हूँ। तुम खुद ही देख लो न कि किसकी बात सही है!"[४]

यशोदा ने कृष्ण के मुख में व्रजधाम, पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं एवं समस्त चराचर विश्व को देखा। इस प्रकार गोपाल ने माँ यशोदा को विश्वरूप का दर्शन कराया।

बालक के मुख में यह सब देखकर यशोदा डर गयीं। उन्होंने सोचा – यह क्या सपना है या देवमाया?

परन्तु कृष्ण की माया ऐसी है कि कुछ ही क्षणों में माँ यशोदा सब कुछ भूल गयीं। बड़े स्नेह से शिशु को गोद में लेकर वे स्नेह-दुलार करने लगीं। ❖(क्रमशः)❖

४. नाहं भक्षितवान् अम्ब ! सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि, समक्षं पश्य मे मुखम्॥ १०/८/३५

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(९२) ते नर नर नहीं, जे न बचन निबाहीं

स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण श्री लालबहादुर शास्त्री को गिरफ्तार करके इलाहाबाद के पास नैनी जेल में रखा गया। उस समय उनकी ग्यारह महीने की बेटी पुष्पा बड़ी बीमार थी। उनके साथी उन्हें आग्रह करने लगे कि वे बेटी की बीमारी की वजह बताकर घर जाने के लिये आवेदन दे सकते हैं। परन्तु स्वाभिमानी तथा एकनिष्ठ स्वभाव वाले शास्त्रीजी को यह बात जरा भी नहीं जँचती थी। क्योंकि यदि वे ऐसा करते, तो उन्हें पहले यह लिखकर देना पड़ता कि जेल से बाहर आने पर वे आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे। जब पुष्पा की हालत दिनो-दिन बिगड़ती गई, तब लोगों का दबाव बढ़ने लगा कि कम-से-कम एक बार जाकर उसे देख तो आयें। तब उन्होंने चार दिन के लिए घर जाने का निश्चय किया। उन्हें इसी शर्त के साथ 'पैरोल' पर रिहा किया गया कि दी गई अवधि के बाद वे पुन: जेल में आ जायेंगे और आन्दोलन में बिलकुल भी भाग नहीं लेंगे।

शास्त्रीजी जब घर पहुँचे, तब उनकी बिटिया भगवान को प्यारी हो चुकी थी। उन्होंने बेटी का दाह-संस्कार किया और पुन: जेल जाने की तैयारी करने लगे। उनके सम्बन्धियों तथा अन्य लोगों ने उनसे कहा कि दाह-कर्म से ही क्रिया-कर्म पूरा नहीं हो जाता। मृतक के लिये और भी कर्म करने पड़ते हैं। उन्होंने उत्तर दिया – "जिस काम के लिए मैं जेल से छुट्टी लेकर आया था, वह पूरा हो गया है। सारे संस्कार करने के लिए मुझे ज्यादा दिन रहना होगा। इसके लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे अनुमति नहीं देती। मुझे जेल जाना ही होगा।" वचन के पक्के होने के कारण वे उसी दिन जेल लौट गये।

बाद में घरवालों को धीरज बँधाने के लिए उन्होंने पत्नी ललिता देवी की ओर से एक कविता लिखकर भेजी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित थीं –

पुष्पा तू बन गई हमारी, अमर देश की सुन्दर रानी।
बीती बात बनाती पगली, शेष रही बस एक कहानी।।
बड़े प्यार से पुष्पे तुझको, मैं अंकों में लेती थी।
मन ही मन सब खुश हो जाते, हुंकारी जब देती थी।।
मुझ गरीबनी दुखिया माँ को, क्यों पुष्पे तू छोड़ चली।
पहले तो बंधन में बाँधा, फिर क्यों इसको तोड़ चली।।
यही खेल क्या निठुर नियति का, तूने अभी जो खेला है।
यह कह बन्धन तोड़ चली कि जग तो एक झमेला है।।

लोक-सेवा के साथ जब आत्म-संयम की साधना भी चलती है तो जीवन उदात्त बन जाता है। शास्त्रीजी के लिए जेल की सजा काटना और दिया हुआ वचन निभाना कर्तव्य-पालन था। एक सच्चे कर्मयोगी होने के कारण ही बेटी की मृत्यु के बाद उन्होंने जेल से बाहर रहना उचित नहीं समझा।

(९३) गुप्त दान श्रेष्ठ दान

सन्त तायब को एक बार एक घोड़ा भूखा-प्यासा दिखाई दिया। उन्होंने उसे पानी पिलाया और उसे एक पेड़ से बाँध दिया। उन्होंने सोचा कि इसका मालिक इसे यहाँ देखकर ले जाएगा। मगर तीन-चार दिनों तक कोई उसे लेने नहीं आया। एक दिन जब उनका एक छात्र उनसे मिलने आया, तो उन्होंने उसे घोड़ा देते हुए कहा, "यह घोड़ा अच्छी नस्ल का है। तेरे काम आएगा। तू इसे ले जा, मगर मैंने इसे तुझे दिया है, इस बात का जिक्र किसी से भी मत करना।"

छात्र घोड़े पर बैठकर जा ही रहा था कि सिपाहियों ने उसे रोककर पूछा कि यह घोड़ा उसे कहाँ मिला। उसने जब कोई जवाब नहीं दिया, तो वे उसे पकड़कर थाने में ले गये। बात यह थी कि एक सौदागर की हत्या हो गई थी और चोर धन के साथ उसका घोड़ा भी चुराकर ले गये थे। सन्त ने अपने एक शिष्य को उस छात्र के पीछे-पीछे जाने के लिए कहकर भेजा था कि वह देखे कि छात्र का क्या करता है! शिष्य ने सन्त को जब उसके पकड़े जाने की बात बताई, तो उन्होंने थाने में जाकर बताया कि उसको यह घोड़ा उन्होंने ही दिया था और इसका जिक्र उन्होंने ही किसी से भी न करने को कहा था। इसकी वजह पूछने पर उन्होंने कहा, "यदि लोगों को मालूम होता कि मैंने इसे घोड़ा दिया है, तो लोग मेरी वाहवाही करते।" – "मगर दान देने में बुराई ही क्या है?" थानेदार के इस प्रश्न के उत्तर में सन्त बोले, "दान देना कोई एहसान की बात नहीं है। दान को वस्तुत: गुप्त ही रखना चाहिए। किसने किसको दिया, इसका जरा भी जिक्र नहीं होना चाहिए। दान देनेवाला यदि अपना नाम गुप्त न रखे, तो हर तरफ उसकी उदारता की चर्चा होगी और इससे उसके अहंकारी हो जाने की सम्भावना है। सस्ती लोकप्रियता कमाने के लिए दान देना कदापि उचित नहीं। इसके अलावा, जिसे दान दिया जाता है, वह व्यक्ति भी उसके एहसान तले दब जाता है। दान मनुष्य की मुक्ति का साधन है, बन्धन में जकड़ने का नहीं। दान इस प्रकार दिया जाय कि दायें हाथ से दिये गये दान को अपना बायाँ हाथ भी न जान सके।"

आत्माराम की आत्मकथा (५०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी – डिगबोई

डिगबोई में भी कुछ भाषण हुए। उनमें से दो हिन्दी में हुए – एक मारवाड़ी बाजार में और दूसरा सिख गुरुद्वारे में। सिलहट से ही थोड़ा-थोड़ा बुखार रहने लगा था, जो पूरे भ्रमण के दौरान बना रहा। डिब्रूगढ़ में बुखार थोड़ा अधिक था। इसलिये शरीर दुर्बल हो गया था। ऐसी अवस्था में लग रहा था कि किसी प्रकार ठीक हो जाऊँ! करीमगंज में तीन दिनों के धर्म-सम्मेलन का आयोजन हुआ था। उनमें से दो दिन वैष्णव, जैन, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म पर व्याख्यान होनेवाले थे। मेरा भाषण पहले दिन था और दूसरे दिन मुझे सभापति बनाया गया था। पहला दिन तो ठीक-ठीक निकल गया, पर दूसरे दिन टाऊन-हॉल जाकर देखा – इतनी भीड़ कि अन्दर घुसने को रास्ता तक नहीं मिल रहा था। जिधर देखो उधर ही मुस्लिम जनता, जिसमें छात्रों की संख्या ही अधिक थी। साथी लोग घबराये हुए थे। हिन्दू-भाई लोग यह देखकर दूर ही रहे। रह गये तो केवल आश्रम के कुछ लोग, उत्सव समिति के अध्यक्ष, नगरपालिका के अध्यक्ष, जेल के डॉक्टर और एक दम्पति। वे भी बड़े चिन्तित-से बैठे थे। बाहर निकलने का उपाय न था। हॉल खचाखच भरा था और बाहर भी काफी लोग थे। वक्ताओं में मात्र एक वैष्णव (वृद्ध) ही आये थे। ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध तथा जैन वक्ताओं का कहीं पता न था। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद कार्यक्रम शुरू किया गया। वैष्णव का व्याख्यान अच्छा ही हुआ – पाँच भावों की बात कहते-कहते वे नर्वस हो गये और सब गोलमाल हो गया। इतनी भीड़ ही इसका कारण था।

मुस्लिम भाई शिक्षा-अधिकारी और मौलवी थे। वे दो दस्ता कागज लिखकर लाये थे और समय केवल पाँच मिनट का ही था, अत: उनसे पहले से ही संक्षेप में और साथ ही केवल धर्म के विषय में बोलने का अनुरोध किया गया था। लेकिन उन्होंने निकाह प्रथा से लेकर सम्पत्ति के बँटवारे तक सभी कुछ को धर्म के अन्तर्गत मान रखा था। विशेष रूप से स्त्रियों के लिए इस्लाम में कितनी सुविधा है, इसकी कानूनी व्याख्या के साथ वे रसपूर्वक वर्णन करते रहे। कहने पर भी वे रुकने को तैयार न थे। इनको चुनने में नगरपालिका के अध्यक्ष ही उत्तरदायी थे। उनको कई बार कहा था कि एक बार देख-सुन लें कि मौलवी साहब क्या कहेंगे। लेकिन हर बार ही शायद भय के कारण – बड़े विद्वान् हैं, अच्छे आदमी हैं, सुन्दर लिखा है आदि कहकर बात टाल दी। लिखा तो अच्छा ही था, मगर प्रसंग के उपयुक्त नहीं था। आखिरकार उन्हें जोर देकर बैठाने को बाध्य हुआ। वे मुख लाल किये नाराज होकर बैठ गये। ईसाई वक्ता दक्षिणी थे, अच्छा और विषय पर बोले। इसके पिछले दिन एक अन्य मौलवी ने बड़ा सुन्दर और ठीक विषय पर भाषण दिया था। इससे मुझे सुविधा हुई। इन दोनों को सामने रखकर (अपने अध्यक्षीय भाषण में) मैंने कहा कि धर्मसभा में क्या कहना उचित है, यह सभा समाज-सुधार या कानून बनाने के लिए नहीं बुलायी गयी है कि निकाह से स्त्रियों को कितनी सुविधा होती है या मुस्लिम कानून कितनी स्वतंत्रता देता है, सम्पति में अधिकार देता है। तब तो ईसाई लोग मुसलमानों से भी कहीं अधिक अधिकार, स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वाधीनता आदि देते हैं, अत: उसी को सर्वश्रेष्ठ धर्म होना चाहिए। और यदि वे थोड़ा अपने ही प्रान्त की ओर देखते कि असम की अनेक पहाड़ियों में महिलाएँ ही सम्पत्ति की स्वामिनी और काफी स्वतंत्र होती हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार पति चुनती हैं। फिर दक्षिणी भारत के केरल प्रान्त में भी ऐसा ही है। अत: महिलाओं के लिये अधिक अधिकार तथा स्वाधीनता के लिए मुसलमान बनने की जरूरत नहीं है, आदि का प्वाइंट-बाइ-प्वाइंट गर्म-गर्म उत्तर देकर – श्रीरामकृष्ण के समन्वयवाद तथा स्वाधीनता की तुलना करते हुए मैंने अपना वक्तव्य पूरा किया। सभी को भय था कि हुल्लड़ होगा। परन्तु यद्यपि मैंने बाध्य होकर अनेक तिक्त सत्य स्पष्ट तथा जोर देकर कहे थे, तथापि श्री भगवान की कृपा से वैसा कुछ भी नहीं हुआ।

त्रिपुरा में सभाएँ

करीमगंज में दोनों हाईस्कूलों में अच्छी सभा हुई थी। उसके बाद कैलाशहर में जाना हुआ, जो टिपेरा या त्रिपुरा राज्य में पड़ता है। अब भी स्वाधीन त्रिपुरा का अलग सील – राजचिह्न है, यह देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। कैलाशहर छोटी जगह है, आश्रम भी छोटा है लेकिन इसकी विशेषता है। आश्रम के मुख्य कर्मी तथा संचालक ब्रजेन बाबू शान्त स्वभाव के व्यक्ति हैं। देखकर समझ में नहीं आता कि उनमें इतनी ऊर्जा और दृढ़ता है। त्रिपुरा राज्य के मैनेजर के अनुग्रह से पहाड़ के किनारे आश्रम के लिए कुछ बीघे जमीन मिली

थी। उन्होंने दो एक सहकर्मियों की सहायता से स्वयं ही उस मिट्टी के पहाड़ को काटकर समतल किया था। पैसा नहीं था कि मजदूर रखते। उन्होंने बड़े-बड़े पेड़ों को भी काट डाला, केवल उससे फर्नीचर आदि बनवाने के लिए बढ़ई बुलाने को बाध्य हुए थे। तालाब उन्होंने स्वयं ही खोदा और उसकी मिट्टी से ईंट तैयार करके ४०X२२ फीट का और १३ फीट ऊँचा एक हॉल बनाया था। ऊपर टीन की छत लगाना और दरवाजे-किवाड़ लगाने के अलावा प्लास्टर तक का सारा काम उन्होंने स्वयं ही किया था – वैसे बीच-बीच में दो एक सहकर्मियों ने उनकी भी सहायता की थी।

मन्दिर तथा पुस्तकालय आधे पक्के भवन में थे, इसका अधिकांश भाग उन्होंने खुद ही बनाया था, केवल लकड़ी का काम बढ़ई से करवाया था। रसोईघर का छप्पर उन्होंने पूर्णत: अपने ही हाथों से बनाया था। कई बीघे जमीन में प्लाट काटकर रास्ता बनाना, बगीचे में फल-फूलों के पौधे लगाना – सब कुछ उन्होंने स्वयं और बच्चों के साथ मिलकर किया था। वे कर्मवीर थे – पैसे का अभाव उनके हृदय की सेवा-प्रेरणा में बाधक नहीं हो सका था। वह स्थान मुझे तीर्थ जैसा लगा था। कर्मवीर ब्रजेन बाबू को नमस्कार !

और भी दो-एक जगह – हबीबगंज, गोआलपाड़ा आदि घूमते हुए सिलहट लौट गया। सर्वत्र ही शताब्दी के उपलक्ष्य में सभाएँ खूब सफल रही थीं। प्रतिदिन बुखार आ रहा था और उसने मुझे काफी दुर्बल कर दिया था। अत: उन लोगों की चेष्टा से, शिलाँग के आश्रम के पास ही किराये पर रहने के लिए एक कमरा मिल गया। गोआलपाड़ा तथा गौहाटी होते हुए विश्राम तथा जलवायु-परिवर्तन के लिये शिलाँग गया था। लेकिन वहाँ महीने में तीन दिन भी स्वस्थ नहीं रहा। खून की जाँच कराने पर न तो कालाजार के बीज मिले और न मलेरिया के। मुझे ऐसा लगा २० इंच पानी के देश से सहसा २०० इंच पानी के देश जाने और अत्यधिक भ्रमण करने के कारण ज्वर हो गया है। अत: शिलाँग से सिलहट होते हुए पुन: कलकत्ता गया और वहाँ से ननहाटी होते हुए सीधे डीसा (पालनपुर) गया, जो अब उत्तर गुजरात में है।

डीसा (पालनपुर) १९३७ ई.

१९३७ ई. – डीसा पहुँचने के सात-आठ दिनों के भीतर ज्वर ठीक हो गया। वहाँ लगभग डेढ़ महीने रहा। उस बार वहाँ दिसम्बर-जनवरी के महीने में बहुत ठण्ड पड़ी थी, बहुत से लोग मर रहे थे, फसल भी नष्ट हो गयी थी। पालनपुर के कुछ सेठों की चेष्टा से और मफतलाल गगनभाई की उदारता से पालनपुर रियासत के ही सर्वाधिक प्रभावित गाँवों में एक व्यक्ति के द्वारा अनाज तथा वस्त्र वितरण कराया था। कपड़े तथा कम्बल पालनपुर के कुछ सेठों ने दिये थे और अनाज मुम्बई के मिल-मालिक श्री मफतलाल गगनभाई ने दिया था। इसी बार पालनपुर में पहली बार श्री छोटालाल भाई को कहकर हरिजनों के लिए एक कुँआ बनवाया, जिसका खर्च उनकी बहन लीलाबाई सूरजमल ने दिया था। इसके बाद उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे प्रतिवर्ष हरिजनों के लिए एक कुँआ बनवायेंगी। पालनपुर राज्य के अन्दर अब तक पच्चीस कुँए खुदवाये जा चुके हैं। यह महात्मा गाँधी द्वारा हरिजन-सेवा-संघ शुरू होने के पूर्व ही आरम्भ हुआ था। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से अपील की कि वे पूरे भारत में वैसा करेंगे और पालनपुर के लोगों ने उनके साथ सहयोग किया था – वैसे उसके लिये पहले मेरी अनुमति ले ली थी। केवल एक बार पालनपुर के कर्मी मणिलाल का अहमदाबाद के प्रधान कर्मियों के साथ मतभेद हुआ था। मणिलाल मेरे निर्देश के अनुसार हरिजनों से कुछ काम करवा लेता – कुँआ बनवाने के पहले ही शर्तें निर्धारित हो जातीं कि वे बालू लाने, खुदाई करने तथा मिस्त्रियों के कार्य में सहायता करेंगे। इसमें काफी बचत हो जाती। सभी कुँए सीमेंट से अच्छी तरह बनवाये गये थे। इस बात को लेकर हरिजन सेवा संघ, अहमदाबाद के प्रधान कर्मी ने घोर आपत्ति करते हुए महात्मा गाँधी को लिखा कि इस प्रकार जबरन मजदूरी करवाना बड़ा अन्याय है – गरीबों को दान ऐसे ही करना उचित है – एक स्वामीजी के निर्देश के अनुसार ऐसा करवाया जा रहा है। तब मणिलाल से पूछताछ होने लगी कि ऐसा क्यों किया जा रहा है? मेरे बताने पर उत्तर दिया और दिखा दिया कि हमारे कुँए उनके कुँओं की तुलना में बेहतर और कम खर्च में बने हैं। इससे बहुत जल्दी सभी हरिजन-बस्तियों में कुँए हो जायेंगे। अपने ही काम के लिए यदि वे थोड़ी मेहनत करें, तो इसमें क्या बुराई है? ठक्कर बापा ने यह पढ़ा और अहमदाबाद-वालों को वैसा ही करने का आदेश दिया।

एक अन्य विषय में भी उन्होंने मेरी युक्ति मान ली थी। (वैसे मैं पीछे रहकर मणिलाल तथा सेठों के द्वारा ही ये कार्य कराता था)। पालनपुर में बने पहले कुँए को लेकर जो विवाद हुआ और सेठ छोटालाल को मैंने जो समाधान दिया, वह इस प्रकार है – वहाँ के हरिजनों में तीन जातियाँ हैं – चमार, वणकर और भंगी या मेहतर। ये लोग भी आपस में छुआछूत मानते थे। भंगी सर्वत्र ही संख्या में कम थे; चमार तथा वणकर ही अधिक थे। वणकरों ने उस कुँए पर पूरी तौर से कब्जा करने हेतु कहा कि वे भंगियों को उस कुँए से पानी नहीं लेने देंगे। इसी को लेकर दोनों दलों में झगड़ा हुआ। मैं उस समय कनखल में था। सेठ ने दुविधा में पड़ कर मुझसे पूछा कि अब क्या किया जाय। मैंने सेठ के द्वारा वणकरों की पंचायत के साथ दो शर्तें करवाई। शर्त (१) जब वे एक निश्चित समय पर पानी भरेंगे, तब भंगी नहीं आयेंगे। भंगी लोग अन्य समय पर पानी भरेंगे। (इस

पर यदि वे राजी न हों, तो) शर्त (२) जब भंगी लोग अपने नियत समय पर पानी भरने आयेंगे, उस समय वणकरों की पंचायत द्वारा नियुक्त कोई व्यक्ति उनका पानी भर देगा। यदि वह जल न दे, तो इसकी सूचना मिलते ही वह कुँआ भंगियों को दे दिया जायेगा। वणकरों ने पहली शर्त मान ली।

मेरे कहने पर कुँए के लिये जमीन हर जगह राज्य से ही माँगी गई थी। राज्य को उस सत्कार्य हेतु जमीन देने को बाध्य किया गया था। नवाब साहब ने खुश होकर ही जमीन दी थी। पहले तो छोटू भाई जमीन खरीदने लगे थे, मैंने ही मना कर दिया, क्योंकि एक तो उतने पैसों की बचत हो जायेगी और दूसरे राज्य की जमीन पर बनने के कारण वे कुँए किसी की निजी सम्पत्ति नहीं हो सकेंगे।

तभी अहमदाबाद के हरिजन आश्रम के एक प्रधान कर्मी द्वारा गुजरात के एक ग्राम में कुँआ बनवाने के बाद उसी तरह का झगड़ा खड़ा हो गया। ये शायद वणकरों को समझाने गये थे, जिससे उन पर मार पड़ी और इतनी पड़ी थी कि उन्हें कुछ दिनों के लिये अस्पताल में भर्ती होना पड़ा था। मैंने मणिलाल को भेजकर उन्हें अपनी योजना बतायी और उनसे महात्माजी को पत्र लिखवाया। उसके बाद से उन लोगों ने भी हमारी योजना के अनुसार शर्त तय करके काम कराया और झगड़ा नहीं हुआ, कम-से-कम सुनने में तो नहीं आया।

डीसा से बेलूड़ मठ लौटा। वहाँ जाते ही फिर शताब्दी के उपलक्ष्य में अनेक स्थानों पर जाकर व्याख्यान आदि देने पड़े। गर्मियों में कर्सियांग गया। पुनः मठ लौटा और विभिन्न स्थानों पर सभाओं में भाग लेने गया।

१९३८ ई. में एक वर्ष के लिए ढाका आश्रम का कार्यभार लेकर वहाँ जा पहुँचा।

ढाका (१९३८-३९)

१९३८-३९ ई.। एक वर्ष के लिए कार्यभार लेकर ढाका गया। कार्य-क्षमता होते हुए भी सहकारियों का अभाव बोध हो रहा था। तथापि अकेले ही दो-तीन छात्रों को साथ लेकर ६५ गाँवों में बाढ़-राहत कार्य करने को बाध्य हुआ। बेलूड़ मठ को पत्र लिखने पर उत्तर आया कि अन्य स्थानों पर भी राहत-कार्य चल रहा है, अतः सहकारी तथा धन नहीं दे सकते। स्थानीय लोगों से ही जितना संग्रह हो सकेगा, उसी से काम चलाना होगा। स्थानीय कमेटी के सदस्यों को स्पष्ट कह दिया – ''मेरे लिये स्वयं चन्दा इकट्ठा करना सम्भव नहीं होगा, आप लोग जितना कर सकेंगे, उसी के अनुसार कार्य होगा – बेलूड़ मठ ने सूचित किया है कि वे कुछ भी नहीं दे सकेंगे।'' चावल तथा कपड़ों का वितरण हुआ। ढाई महीने बाद बाढ़ कम होने पर राहत-कार्य बन्द किया गया।

डॉक्टर घोष का आश्रम, मालिकान्दा। एक दिन वहाँ के सचिव उपस्थित हुए। वे १५-१६ गाँवों में राहत-सामग्री दे रहे थे, पर अब धनाभाव के कारण नहीं दे पा रहे हैं। उन्होंने बताया कि वहाँ राहत-कार्य चलाना बहुत जरूरी है। लोग बहुत पीड़ित हैं। मैं बोला – ''क्यों महाशय, काँग्रेस ने तो बहुत रुपये एकत्र किये हैं और श्री वल्लभ भाई से इस बाढ़-सहायता के लिए मिला भी है। आप लोग काँग्रेस के हैं, इसलिये आपको वहाँ से और भी मिल सकता है।''

उत्तर मिला – ''जी, यदि वहाँ से मिलता, तो आपको कष्ट देने नहीं आते। सु... बाबू ने मना कर दिया है और कहा है कि उन्हें एक भी पैसा मत देना। क्या करूँ, बताइये? एक बार सहायता देना शुरू करके बन्द कैसे किया जाय। इस महीने देने से ही हमारा कार्य हो जायेगा, परन्तु वर्तमान में सहायता देना अति आवश्यक है।'' मैं जितना ही अपनी असुविधा की बात कहता, वे उतना ही जोर देने लगे, करीब-करीब रोने लगे। आखिरकार एक दिन रसमय दत्त (जो सिलहट के थे और आश्रम में रहकर डॉक्टरी पढ़ रहे थे), को तैयार रहने को कहकर भाग्यकूल के मार्ग से मालिकान्दा के लिये रवाना हुआ।

उनको सूचना दे रखी थी। भाग्यकूल से नाव में जाना था। एक तगड़ा जवान मुसलमान मल्लाह ले जाकर एक घण्टे में पहुँचा देने को राजी हुआ। वर्षा हो रही थी, लेकिन उसने लगातार अकेले ही डाँड चलाते हुए एक घन्टे में मालिकान्दा पहुँचा दिया। भाड़े के ऊपर एक रुपया बख्शीस देने पर वह बहुत ही खुश हुआ।

मैंने पूछा – और क्या काम करते हो?

उत्तर – जी, मछलियाँ पकड़ता हूँ। मौलवी साहब ने कहा है कि यह बहुत अच्छा काम है।

प्रश्न – कितना मिलता है?

उत्तर – जी, ३-४-५ रुपये, जिस दिन जैसा मिले।

प्रश्न – कब जाते हो?

उत्तर – अँधेरा रहते ही भोर में जाता हूँ और लौटते रात हो जाती है। चाँदनी रहने से अधिक रात भी हो जाती है।

प्रश्न – खाने का क्या करते हो?

उत्तर – किसी-किसी दिन दोपहर के बारह-एक बजे घर आकर खाकर जाता हूँ और दूर निकल जाने पर नाव में ही थोड़ा-सा चावल बनाकर खा लेता हूँ।

मैं – बहुत अच्छा, खूब कमाओ और आनन्दपूर्वक रहो।

मल्लाह – खुदा की दुआ!

मलिकान्दा आश्रम में पहुँचकर थोड़ा-सा भरता और भात खाने के बाद निरीक्षण करने निकले। आश्रम में दो लोग थे। हम सभी एक हिन्दू मल्लाह की नाव में गये। (नौका रेंग रही

थी, मल्लाह बार-बार तम्बाकू पी रहा था और लगातार बातें किये जा रहा था। आखिरकार मैंने उससे पूछा – वह और कोई काम करता है या नहीं!

उत्तर मिला – जी मछलियाँ पकड़ता हूँ।

प्रश्न – कितना मिलता है?

उत्तर – जी, डेढ़-दो और कभी-कभी ढाई रुपये।

प्रश्न – जिसकी नौका में मैं आया था, उस मुसलमान माँझी ने कहा कि वह रोज ३-४ या ५ रुपये की मछलियाँ पकड़ता है – तुम्हारा इतना कम क्यों होता है?

उत्तर – जी, वे मुसलमान हैं, खूब भोर में उठते हैं और मछली पकड़ने चले जाते हैं। कभी दोपहर को घर में खाने आते हैं, वरना आते ही नहीं है और रात को लौटते हैं।

प्रश्न – तुम मछलियाँ पकड़ने कितने बजे जाते हो?

उत्तर – जी, सूर्योदय का समय हो जाने पर कुछ खा-पीकर निकलता हूँ।

प्रश्न – दोपहर को कब खाते हो?

उत्तर – जब बारह-एक बजे लौटता हूँ तब खाता हूँ।

प्रश्न – फिर कब जाते हो?

उत्तर – "जी, थोड़ा विश्राम लेकर फिर जाता हूँ और सन्ध्या के समय लौटता हूँ। आँधी-तूफान या वर्षा होने के लक्षण दिखने पर नहीं जाता हूँ। जी, भगवान जितना देते हैं, उससे किसी प्रकार निर्वाह हो जाता है। ये बाबू लोग मेरी बड़ी सहायता करते हैं, इसलिए नौका इन्हीं के घाट पर रखता हूँ। यात्री मिलने पर ले जाता हूँ। मुसलमानों ने जब से मछली पकड़ना शुरू किया है, हम लोगों का सर्वनाश हो गया है। उनके साथ टक्कर लेने की क्षमता हममें नहीं है।"

मैंने अपने साथ के दोनों कर्मियों से कहा – "सुनिये, इन आलसी अभागे लोगों को आर्थिक सहायता देकर क्या आप इनका सुधार कर सकेंगे? ये लोग इतने आरामतलब हैं कि दूसरे लोग इतनी मेहनत करते और कमाते हैं – यह जानते हुए भी ये मेहनत नहीं करेंगे – नहीं समझते हैं कि क्रमश: निर्धनता के दबाव से नष्ट हो जायेंगे। श्रीरामकृष्ण की एक कहानी है – एक बार अनावृष्टि के कारण कृषकों को अकाल पड़ने की आशंका हुई। दो किसान तालाब से नाला काटकर खेतों में पानी लाने के लिए अपनी-अपनी जमीनों पर मेहनत कर रहे थे। दोपहर बीत गया। देर होती देखकर एक की पत्नी ने अपनी पुत्री को भेजा कि वह पिता को भोजन के लिये बुला लाये। उसने पुत्री को डॉटकर वापस भेज दिया। तब उसकी स्त्री उपस्थित हुई और बोली – 'तुम हर चीज में ही बहुत जिद्द करते हो। सूर्य चढ़ गया है, पहले कुछ खा लो, उसके बाद जो खुशी, करते रहना।' इस पर वह क्रोधित होकर कहने लगा – 'क्या तू नहीं समझती कि फसल न होने पर बाल-बच्चे सब भूखों मरेंगे! तू यहाँ से चली जा। आज तो जब तक खेत में पानी न पहुँच जाय, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' और वह फिर नाला खोदने में जुट गया। संध्या के समय जब कल-कल की आवाज के साथ खेत में पानी आने लगा, तब उसने घर लौटकर कहा – 'ला मुझे तेल दे, खाना तैयार कर, मैं अभी नहाकर आता हूँ।' इसके बाद वह तालाब में स्नान करके लौटा और खाना खाकर निश्चिन्त भाव से तम्बाकू पीने लगा। उधर दूसरा किसान भी अपने खेत में पानी लाने के लिए नाला काट रहा था। उसकी पत्नी ने भी आकर कहा – 'अजी, दिन चढ़ गया है, देर हो गई है, खाने के लिए चलो, नाला तो कल भी खोद सकते हो।' उसने तत्काल कहा – 'तू जब कहती है, तो चल।' और भोजन करने चल दिया। उसका पानी लाना सम्भव नहीं हुआ।"

हिन्दू माँझी की दुर्दशा भी उसी प्रकार की है। घर में गृहिणी के कहते ही उसका जाना नहीं होता – उधर आर्थिक दुर्दशा बढ़ रही है, उस ओर कोई ध्यान नहीं है। इनके दु:खों को दूर करने का सामर्थ्य तो देवताओं में भी नहीं है। आप लोग नित्य सहायता दे-देकर इन्हें और भी पंगु बना रहे हैं, मेरे ख्याल से इन्हें उत्साहित करके कर्मठ बनाने की चेष्टा करने से इनका कहीं अधिक उपकार होगा। मैं निरीक्षण करके लौटा और अगले सप्ताह रसमय को साथ लाकर छह गाँवों में, जहाँ लोग अत्यधिक पीड़ित थे, चावल देने की व्यवस्था की। मैंने वहाँ एक महीने रहकर एक केन्द्र बनाकर सहायता दी थी और बाढ़ का प्रकोप घट जाने के बाद वापस लौट आया। बाकी सहायता आश्रम के कर्ताओं ने दी थी।

❖ **(क्रमशः)** ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२३)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

स्त्री-धन-नास्तिक-(वैरि)-चरित्रं न श्रवणीयम् ।।६३।।

अन्वयार्थ – **स्त्री** – नारी, **धन** – धन-सम्पत्ति, **नास्तिक** – ईश्वर में अविश्वासी, **वैरि** – शत्रु (के), **चरित्रम्** – वृत्तान्त, **न** – नहीं, **श्रवणीयम्** – सुनना चाहिये।

अर्थ – स्त्री (काम), धन-सम्पदा, नास्तिकों और शत्रुओं की चर्चा नहीं सुननी चाहिये।

कुछ चीजें उस परम भक्ति की प्राप्ति में बाधक हैं। उनसे बचना आवश्यक है, इसीलिये नारद कहते हैं कि भक्त को नारी, धन, नास्तिकों और शत्रुओं की चर्चा नहीं सुननी चाहिये। ऐसी चीजों का वर्णन सुनने से बचना चाहिये।

पहली बात है नारी। आधुनिक युग में लोग, जैसा कि स्वाभाविक है, इस पर आपत्ति उठायेंगे। पर इसका अभिप्राय यह है कि इससे भक्त के मन में काम-भाव उत्पन्न होगा, जिससे दूर रहना है। इसका अर्थ नहीं कि स्त्रियों का तिरस्कार करना है। यहाँ तात्पर्य यह है कि स्त्रियों के प्रति ऐसा भाव या विचार होना चाहिये, जिससे कि मन में विकार या काम-भाव न उत्पन्न हो सके।

इस सन्दर्भ में इस पर विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ स्त्रियों का उल्लेख पुरुषों के लिये किया गया है। इसी तरह स्त्रियों के लिये पुरुष हैं। महिलाओं को भी पुरुषों के विषय में ऐसी चर्चा से दूर रहना चाहिये, जिससे काम-भाव का उद्रेक हो। यह बात जीवन में किसी व्यक्ति की स्थिति के अनुसार लागू होती है। यदि पुरुष भक्त है, तो उसे स्त्रियों की चर्चा से दूर रहना चाहिये अर्थात् विकारों को उद्दीप्त करनेवाली चर्चा या वर्णन से दूर रहना चाहिये। अत: यह बात स्त्री-पुरुष – दोनों पर ही लागू है।

यह स्वाभाविक ही है कि धन का चिन्तन व्यक्ति के मन में उसके प्रति आकर्षण का उद्दीपन करेगा। और नास्तिक या ईश्वर में अविश्वासी के बारे में सुनने से – उसका जीवन, उसके वचन, उसके आचरण – व्यक्ति को स्वाभाविक रूप से ही ईश्वर की वास्तविकता के बारे में सन्देह की ओर ले जायेंगे। अत: उचित यह होगा कि इस प्रकार के विचारों की संगति से दूर रहा जाय। शत्रुओं की चर्चा भी ऐसी ही है, क्योंकि उससे भक्त के मन में क्रोध उत्पन्न होगा।

इसका तात्पर्य बस इतना है, जो भी वस्तु व्यक्ति के मन को ईश्वर-चिन्तन से दूर हटाती है, उससे बचना चाहिये। जो कुछ भी ईश्वर-चिन्तन से दूर ले जाता है, ईश्वर के अविच्छिन्न स्मरण में बाधा डालता है, उससे इस कारण बचना चाहिये कि ऐसे विचारों में तल्लीनता क्रमश: मन में ईश्वर से दूर रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न करेगी। ये बातें केवल बाह्य विचार मात्र नहीं हैं, अपितु ये भक्त-साधक के मन में उनके प्रति राग-द्वेष रूपी आसक्ति पैदा करेंगी।

गीता[1] में कहा गया है कि विषयों के संसर्ग या चिन्तन से आसक्ति उत्पन्न होती है। यह संसर्ग बहुत ही खतरनाक चीज है। प्रारम्भ में, व्यक्ति सोच सकता है कि वह इसके द्वारा प्रभावित नहीं होगा। परन्तु वस्तुत: ऐसा हो ही नहीं सकता। इस बारे में व्यक्ति को बहुत सजग रहना होगा, क्योंकि प्रारम्भ में यह हानिप्रद नहीं भी लग सकता है। व्यक्ति सोच सकता है कि वह इन चीजों या बातों से ऊपर उठ चुका है। तथापि संसर्ग या चिन्तन के द्वारा क्रमश: मन की अवस्था में ह्रास आयेगा। वह क्रमश: ईश्वर से दूर जाने लगेगा और सांसारिक वस्तुओं तथा सुखों में आसक्त हो जायेगा। इसी संकेत के प्रति सतर्कता की घण्टी यहाँ बजाई गई है और आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य रखनेवाले भक्त को इसका बहुत कठोरतापूर्वक अनुसरण करना है। आधुनिक समाज में, ऊपरी तौ से यह असम्भव या बेतुका भी प्रतीत हो सकता है। आधुनिक समाज की जो इच्छा हो, वह कहता रहे, परन्तु भक्त को अपने समय के जनमत से प्रभावित हुये बिना अपने आदर्श का अनुसरण करना है।

स्वच्छन्द रूप से हर प्रकार के लोगों के साथ मेल-जोल रखना, आज के जीवन का एक ढर्रा ही बन गया है, और

१. गीता, २/६२

कुछ हद तक यह स्वीकार्य भी हो सकता है, पर इस विषय में सुस्पष्ट रूप से एक लक्ष्मण-रेखा खींच लेनी चाहिये कि व्यक्ति कितनी दूर तक जा सकता है और उसे कहाँ ठहर जाना है। यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, जिसे मन में रखना है, क्योंकि ये विचार संसारासक्त लोगों के लिये नहीं हैं। ये विचार उनके लिये हैं, जो ईश्वर के प्रति परम भक्ति रखना चाहते हैं, जो ईश्वरार्पित मनवाले हैं। उनके लिये कुछ सावधानी नितान्त आवश्यक है, भले ही सांसारिक लोगों द्वारा इसकी चाहे जितनी भी निन्दा की जाय। कुछ लोग कह सकते हैं कि इससे व्यक्ति की प्रवृत्तियों का दमन (suppression) होने लगेगा। यह एक मिथ्या धारणा है, क्योंकि स्वाभाविक प्रवृत्तियों के दमन का क्या तात्पर्य है? एक सभ्य समाज में हर नागरिक से अपने मन पर नियंत्रण रखने की अपेक्षा की जाती है। यदि व्यक्ति को स्वच्छन्द आचार-व्यवहार की अनुमति दे दी जाय, तो यह मानव-समाज एक पशु-समाज में परिणत हो जायेगा। अत: दिव्य प्रेम की तो बात ही छोड़ दीजिये, समाज के सुरक्षित रूप से संचालन के लिये भी संयम का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। किसी भी समाज के शान्तिपूर्ण अस्तित्व के लिये संयम रखना नितान्त आवश्यक है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक suppression (दमन) शब्द का प्रयोग करके इस विषय में बड़ा शोरगुल मचाते हैं। हम सर्वत्र सुनते है – "अरे! यदि हम ऐसा करेंगे, तो इससे प्रवृत्तियों का दमन हो जायेगा। इससे ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जायेंगी और इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसके स्नायु-तंत्र में विघटन आ जायेगा। अच्छा, मान लीजिये हम इसे इसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं और अपने मन में उठनेवाली सभी प्रवृत्तियों या कामनाओं के अनुसार आचरण करने लगते हैं, तो क्या यह मानव-समाज कहला सकेगा? यदि हम अपनी प्रवृत्तियों को बेलगाम खुला छोड़ दें, तो समाज बिल्कुल ही नहीं रह जायेगा। तब तो यह पूरी तौर से पशुओं का समाज हो जायेगा। पशु किसी प्रकार का संयम नहीं करते और उनमें जिस समय जैसी सहज प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय वे उसी के अनुसार परिचालित होते हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही उन्हें पशु बनाये रखती हैं और उन्हें कभी उस स्तर से ऊपर नहीं उठने देतीं। परन्तु मानव-समाज पशु-समाज से बहुत भिन्न है। मानव-समाज का अस्तित्व ही इन्द्रियों के नियंत्रण पर निर्भर करता है। इसके बिना इस संसार में शान्तिपूर्वक रह पाना ही असम्भव होगा। इसीलिये जब भी कोई व्यक्ति किसी सीमा का अतिक्रमण कर बैठता है, तो समाज उसके लिये दण्ड की व्यवस्था करता है।

क्या समाज के स्वास्थ्य के लिये लोगों को स्वयं पर नियंत्रण रखने की शिक्षा देना आवश्यक नहीं है? यह नियंत्रण किस सीमा तक हो, यह एक अलग विषय है। नियंत्रण कुछ हद तक जरूरी है और यदि यह अच्छी बात है, तो फिर इसकी कोई सीमा नहीं है। इस विषय पर चिन्तन-मनन करनेवाले लोग कहेंगे कि नियंत्रण आवश्यक है, किन्तु केवल कुछ हद तक, और उससे अधिक नहीं – यदि यह नियंत्रण उससे अधिक होता है, तो उससे ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वे लोग आंशिक रूप से सही और आंशिक गलत हैं, क्योंकि दमन का अर्थ यह है कि आपमें वह प्रवृत्ति है और आप अपनी उस प्रवृत्ति के अनुसार अपना आचरण नहीं होने देते। आपके पास कोई उच्चतर आदर्श भी नहीं है, जो आपको अपने ऊपर नियंत्रण रखने में प्रवृत्त करता हो – यह नियंत्रण भयवश नहीं, बल्कि आचरण की पवित्रता से सुसंगत एक विशेष लक्ष्य तक पहुँचने के विचार से प्रेरित होता है – तो इससे निश्चित रूप से कोई ग्रन्थि नहीं उत्पन्न होगी।

इसी को उदात्तीकरण या रूपान्तरण कहते हैं। इन्द्रियों का suppression (दमन) नहीं करना है, बल्कि उनका sublimation (उदात्तीकरण) करना है। यहाँ शब्द भिन्न हैं, क्योंकि लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न हैं। पहला suppression (दमन) जनमत के भय के कारण है, जबकि दूसरा sublimation (उदात्तीकरण), उच्चतर आदर्श के प्रति आकर्षण के कारण है। इसीलिये इसके परिणाम बहुत भिन्न होंगे।

मुझे इस बात पर इसलिये इतना बल देना पड़ रहा है, क्योंकि समाज बहुत तेजी से बदल रहा है और यह अत्यन्त उन्मुक्त हो गया है। लोगों के घर बरबाद हो रहे हैं और वे सोचते हैं कि वे 'प्रगति' कर रहे हैं। पाश्चात्य देशों को भली-भाँति देख चुके लोग यह समझते हैं कि वहाँ इन्द्रियाँ और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को खुली छूट देने के कारण मानव-समाज किस हालत में पहुँच चुका है। वह स्थायी शान्ति, सामाजिक स्वतंत्रता या अस्तित्व की एक उच्चतर अवस्था की ओर बढ़ने वाला समाज नहीं है।

संयम या निग्रह परम आवश्यक है, परन्तु यह जनमत के भय के कारण नहीं होना चाहिये। यदि यह किसी आदर्श के प्रति प्रेम के लिये है, तो इससे इन्द्रियों का दमन नहीं होगा। इन्द्रियाँ उच्चतर अवस्थाओं में उन्नीत होने और लक्ष्य तक पहुँचने के विचार से संयमित होंगी। इसी को उदात्तीकरण कहते हैं। जैसा कि हम देखेंगे, आगे चलकर इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

❖ (क्रमशः) ❖

ईशावास्योपनिषद् (२१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

मनुष्य के जीवन का एक ही लक्ष्य है – अमृतत्त्व प्राप्त करना। किसी भी प्रकार के बन्धनों में न रहकर पूर्णत: मुक्त हो जाना। मनुष्य इसी जीवन में सीमा को लांघकर असीम हो जाय, यही हमारा लक्ष्य है। यदि हम आत्म-विश्लेषण करके देखें, तो पायेंगे कि वेदान्त जो कुछ हमें बताता है, वह अनुभूति के आधार पर ही बताता है। वेदान्त केवल कल्पना के आधार पर ऐसा कुछ नहीं बताता है जिसकी अनुभूति न की जा सकती हो। वेदान्त कहता है कि कल्पना से प्रारम्भ करो। किन्तु उसकी पूर्ति अनुभूति में होनी चाहिये।

इस अनुभूति की पहचान क्या है? आप-हम सभी यदि आत्मनिरीक्षण करके देखें, तो हममें से कोई भी मरना नहीं चाहता है। हमारे ह्रदयों में अनन्त जीवन की आकांक्षा है। स्वयं मर गये हैं, इसकी कल्पना मनुष्य नहीं कर सकता है। अपने अन्-अस्तित्त्व की कल्पना मनुष्य नहीं कर सकता। 'मैं मर गया हूँ, मैं नहीं हूँ' – ऐसा कहने पर भी उसे जाननेवाला एक तत्त्व रहता है, जो यह जानता है – 'मैं नहीं हूँ, मैं मर गया हूँ।' मेरी मृत्यु को जानने वाला, वह जो मेरा अस्तित्व है, वह अनन्त और अमर है।

कर्म से क्या होगा? पितृलोक की प्राप्ति होगी। जन्म-मृत्यु के चक्कर में फिर से पड़ना पड़ेगा। यह कर्मकाण्ड है। कुछ लोग इस कर्मकाण्ड को त्यागकर केवल शास्त्रों को पढ़ने में और उपासना करने में लगे रहते हैं, किन्तु उनके जीवन का लक्ष्य भी मोक्ष नहीं है। इन कर्मकाण्डियों को छोटा समझ कर, जो केवल उपासना में लगे रहते हैं, उन्हें देवलोक की प्राप्ति होती है। उन्हें भी पुण्य समाप्त होने पर देवलोक से पुन: इस संसार में आना पड़ता है। अत: इन दोनों से अमृतत्त्व, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि देवताओं का आविर्भाव होता है, इसलिये उनकी समाप्ति भी होगी। मनुष्य से कई गुणा अधिक उनका पुण्य है। ऐसी जो स्थिति है वह भी आदि-अंतवाली ही है, वह मनुष्य को कभी-भी परम तृप्ति नहीं दे सकती। इसलिये आचार्यो ने हमारे सामने इसका अर्थ रखा है। विद्या और अविद्या का अभ्यास करोगे तो कैसे अमृतत्त्व की प्राप्ति करोगे? इसे वे बताते हैं। डॉ. राधाकृष्णन ने भी इस पर भाष्य लिखा है। उसमें उन्होंने कुमारील भट्ट का उदाहरण देकर बहुत अच्छी बात बतायी है। कुमारील भट्ट शंकराचार्य के समय के एक महान आचार्य थे। वे कर्मकाण्डी थे। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान थे। वेदों के कर्मकाण्ड को ही वे प्रधानता देते थे, ज्ञानकाण्ड को नहीं। उपनिषदों में उनकी आस्था नहीं थी। केवल यज्ञादि ही करो, वे ऐसा मानते थे।

आचार्य शंकर अपने भाष्य में कहते हैं कि विद्या और अविद्या दोनों के रहस्य को जो जान लेता है वह अविद्या को पार करके देवात्म-भाव को प्राप्त होता है। विद्या और अविद्या का तात्पर्य है कर्म और ज्ञान। कर्म हम करते हैं, किन्तु उसके पीछे अगर विवेक न हो, विचार न हो तो कर्म से हमें विशेष लाभ नहीं होगा। उलटे उसका परिणाम बन्धन भी हो सकता है। उससे मिलने वाला फल अशुभ भी हो सकता है। जो व्यक्ति कर्म नहीं करता, केवल शास्त्रों को पढ़ता है, तत्त्वज्ञान के विचार में रहता है, उससे भी जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये कुमारील भट्ट ने यह कहा कि ज्ञान और कर्म के साथ-साथ उपासना करो। कर्म निष्ठापूर्वक करो जैसाकि वेदों में बताया गया है। उनके नियमों का पालन करते हुये करो, किन्तु साथ ही यह भी विचार करो कि यह कर्म मैं क्यों कर रहा हूँ? इस कर्म का शुभ या अशुभ किस प्रकार का परिणाम होगा? मुक्ति न केवल कर्म करने से होगी, न ही केवल शास्त्रीय ज्ञान से। जब कर्म के साथ आत्मज्ञान जुड़ेगा, तब मुक्ति मिलेगी।

अपने जीवन में भी हम पाते हैं कि जब हम कर्म के परिणाम का विचार करते हैं, तब हमारे कर्म अच्छे होते हैं। जब मनुष्य के जीवन में सामान्य कर्मों के साथ यह विचार जुड़ जाता है, तो जीवन में सत्-असत् विवेक जागृत हो जाता है। जब हम ऐसा कोई कार्य करने को सोचते हैं जिससे बहुत से लोगों का अकल्याण हो सकता है, तो विचार करके हम उसे नहीं करते। यज्ञादि कर्म अपने कल्याण के लिये करें तो ठीक है, किन्तु ऐसे भी दुष्ट लोग हैं, जो तांत्रिक आदि पद्धति से कुछ करके दूसरों का अकल्याण करना चाहते हैं। उनका यह कार्य उनके स्वयं के लिये और दूसरों के जीवन के लिये भी हानिकारक है। अत: विवेकपूर्ण कार्य ही करणीय है।

साधक अगर कर्म करने के पहले विचार नहीं करेगा, तो निरन्तर कर्म के जाल में फँसता जायेगा। कर्म-फल के सम्बन्ध में यदि आसक्ति रही कि उसका फल क्या मिलेगा,

तो इस आशा से अनन्त काल तक कर्म में फँसे रहेंगे। कर्मों के पीछे यदि फल-प्राप्ति का भाव रहा, तो वह कर्म करने के लिये प्रेरित करता रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह ठीक है कि जो व्यक्ति केवल सकाम कर्म करता है, वह अन्धकार की ओर जाता है, मोक्ष की ओर नहीं जाता। किन्तु जब वह व्यक्ति कर्म करते-करते एक दिन उब जायेगा, थक जायेगा, तब यह संभावना है कि उसे यह बोध हो कि अब बहुत कर्म हो गया, अब कुछ उपाय करें, जिससे कर्मों से छुटकारा मिले। तब वह ज्ञान की ओर जाने को सोचेगा, अंधकार से प्रकाश की ओर जाने को सोचेगा। किन्तु जो व्यक्ति आलस्य, अभिमान या बिना विचार के कर्म को त्याग देता है और शास्त्रों को पढ़कर, बिना अनुभूति के 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहता है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान में ही है। क्योंकि जन्म-जन्मातर की साधना से जब चित्तशुद्ध होता है, तब आध्यात्मिक जीवन बिताने की इच्छा होती है।

जो लोग संसार का सारा भोग कर रहे हैं। जिनके जीवन में कोई संयम नहीं है, नियम नहीं है और वे सोचते हैं कि एकदम कुण्डलिनी जाग्रत हो जायेगी और ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। ऐसे लोग विद्या-अभिमानी हैं। ऐसे लोग साधना न करके तथाकथित अहंपुष्टि के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं', ये लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धे हो जाते हैं। कर्म में लगा व्यक्ति थक कर जागृत हो सकता है, उससे कुछ आशा रखी जा सकती है, किन्तु अभिमान में डूबे जो लोग हैं, उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती है। इसकी एक बड़ी सुन्दर व्याख्या वृन्दावन के स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज ने की है। उन्होंने कहा है कि इस अविद्या और विद्या को समझो। केवल जड़वादी मत बनो और केवल काल्पनिक अध्यात्मवादी मत बनो। दुनिया को भूलकर केवल अपनी चिन्ता में लगना, ऐसी कृपणता मत करो। मनोराज्य में विचरण करने की आदत मत डालो। और न ही जड़तन्त्र के समान काम करते रहो। उन्होंने उपाय बताया कि देखो संसार में आये हो, तो प्रारब्ध से जो भोग मिला उन भोगों का भोग करो, किन्तु उसके साथ यह स्मरण रखो कि जीवन का लक्ष्य भोग नहीं है। जीवन का उद्देश्य तो ईश्वर-प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार है। इसलिये भोग करते हुये आत्मज्ञान की उपासना करो। हमेशा अपने लक्ष्य का स्मरण करते रहो और विचारपूर्वक संसार का भोग करो।

यह अविद्या आलस्य या प्रमाद उत्पन्न करती है। किन्तु जब हम विचार पूर्वक भोग करेंगे तो, आलस्य या प्रामाद कट जायेगा। हम प्रारब्ध कर्मों के बारे में सावधान हो जायेंगे। महाभारत में ऋषि कहते हैं – 'प्रमादं वै मृत्युं अहं ब्रवीमि' – प्रमाद ही मृत्यु है, ऐसा मैं कहता हूँ। हममें से जो व्यक्ति आलस्य से भरे हुये हैं, वे जीवित रहते हुये भी मृत हैं। स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज कहते हैं कि यदि तुम आलस्य को त्यागकर कर्म की पूर्ति में लगोगे, तो तुम्हारे चरित्र में सुधार होगा। जब ज्ञान-विचार और विवेक-विचार करोगे, तो तुम्हारे अन्त:करण की शुद्धि होगी। अविद्या अर्थात् संसार से मिले हुये कर्म और विद्या अर्थात् सत्-असत्-विवेक। यदि इन दोनों को साथ-साथ चलाओगे, तो चरित्र और चित्त दोनों शुद्ध हो जायेंगे। जब चरित्र और चित्त शुद्ध होगा, तब व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होगा। वस्तुत: उपनिषद का यही तात्पर्य है।

अगले १२,१३,१४वें मन्त्र में ऋषि इसी तत्त्व को सम्भूति और असम्भूति नाम से और स्पष्ट कर रहे हैं –

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ।।१२।।

– जो लोग असम्भूति अर्थात् नश्वर देव-पितृ-मानव आदि की उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में जाते हैं और जो लोग शाश्वत अविनाशी परमात्मा की उपासना में संलग्न होने का मिथ्याभिमान करते हैं, वे उनसे भी अधिक घोर अन्धाकार में जाते हैं।

इस मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है। इसका शाब्दिक अर्थ है – 'असम्भूति' माने प्रकृति या माया। जो प्रकृति या माया की उपासना करते हैं, वे माया में फँसते हैं और फिर अन्धकार में जाते हैं तथा 'सम्भूति' अर्थात् जो लोग देवता या हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे लोग और भी घोरतम अन्धकार में जाते हैं। आचार्य इसका अर्थ करते हैं – जो लोग विनाशशील वस्तुओं की उपासना करते हैं, जिसमें केवल मानव-देह ही नहीं, देव-लोक भी आता है, यह विनाशशील है। इसकी जो उपासना करते हैं, उनका जीवन नष्ट हो जाता है। अन्धकार में जाने का तात्पर्य है कि मनुष्य-देह जिसके लिये मिली थी, उसको छोड़ दिया और अन्यान्य निरर्थक कार्यों में लग गये। इस मनुष्य योनि में अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने का जो अवसर मिला है, इससे ये लोग वंचित रह जाते हैं। जिन्हें परमात्मा की अनुभूति नहीं है, केवल कल्पना में रहकर इस अभिमान में रत हैं कि हम उसकी उपासना करते हैं, तो ऐसे लोग और भी अधिक अंधकार में जाते हैं। क्योंकि वे आलसी हैं, प्रमादी हैं। कर्म के द्वारा आलस्य का त्याग नहीं कर पा रहे हैं। कर्म के द्वारा उनकी चित्तशुद्धि नहीं हो पा रही है, जिसके कारण ये ब्रह्मविद्या के लिये अयोग्य हो रहे हैं। बिना निष्काम कर्म के कभी भी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती है और जब तक चित्तशुद्धि नहीं होती तब तक ठीक-ठीक उपासना नहीं हो सकती।

❖ (क्रमशः) ❖

शिकागो की सफलता का समाचार

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

इस दौरान स्वामीजी की शिकागो में सफलता के समाचार भारत में आने लगे और कुछ समाचार-पत्रों में मुद्रित भी होने लगे। अगले पत्र में स्वामीजी के शिष्य अक्षय कुमार घोष ने खेतड़ी के महाराजा को इसकी यथाप्राप्त सूचना दी है –

मुम्बई, ४ नवम्बर, १८९३

"आज मैं एक सुखद समाचार के साथ महाराज के समक्ष उपस्थित हो रहा हूँ और यह स्वामीजी के विषय में है। स्वामीजी शिकागो के कोलम्बियन मेले के अवसर पर आयोजित हुई शिकागो की धर्म-महासभा में स्थान पाकर सम्मानित हुए हैं। उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए उसी के बारे में व्याख्यान दिया और वहाँ उपस्थित विभिन्न समुदायों के नर-नारियों द्वारा अपने समक्ष रखे गये अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया। 'मैसेंजर' में यह समाचार इस प्रकार प्रकाशित हुआ है – 'शुक्रवार की सुबह एक और सत्र सनातन हिन्दू धर्म के लिये रखा गया था। एक ब्राह्मण (हिन्दू) संन्यासी स्वामी विवेकानन्द अपने धर्म की शिक्षाओं के विषय में बोले और श्रोताओं द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया। कैथॅलिक तथा प्रोटेस्टेंट पादरी, थियॉसाफिस्ट, युक्तिवादी आदि विभिन्न सम्प्रदाय के नर-नारियों द्वारा सैकड़ों प्रश्न पूछे गये थे। पूरा हॉल भीड़ से भरा हुआ था और चरम उत्साह का वातावरण था; तथापि विभिन्न मतावलम्बी श्रोताओं और इन मूर्तिपूजक आचार्य के बीच कोई भी मतभेद-पूर्ण टकराव नहीं दीख पड़ा।' १८ सितम्बर के एक अन्य अखबार में मैंने निम्नलिखित समाचार देखा – 'भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाले मंच पर उपस्थित सज्जनों के नाम हैं – कोलकाता के ब्रह्मसमाजी श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार; मुम्बई के ब्रह्मसमाजी श्री बलवन्त भानु नगरकर; इलाहाबाद के ब्राह्मण थियॉसाफिस्ट बाबू जी. एन. चक्रवर्ती; बंगाल के उच्च ब्राह्मण (हिन्दू) स्वामी विवेकानन्द; कोलम्बो, श्रीलंका के बौद्ध श्री ए. धर्मपाल; मुम्बई के जैन श्री वीरचन्द गाँधी तथा कुछ अन्य लोग जिनके नाम हमें नहीं मिल सके।" स्वामीजी की शिकागो में गतिविधियों के बारे में ये ही नवीनतम समाचार हैं और कुछ सूचित करने योग्य मिला, तो मैं फिर लिखूँगा।

जगमोहन लाल जी को लिखे अपने पिछले पत्र के उत्तर की मैं धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आशा करता हूँ कि मेरे पत्र तथा टेलीग्राम रद्दी की टोकरी में नहीं पहुँचे होंगे, यदि ऐसा हुआ, तो मैं धैर्यपूर्वक अपने कष्ट सहन करूँगा और देखूँगा कि क्या होता है। मैंने महाराज को काफी तंग किया है और मैं इसके पक्ष में कोई सफाई नहीं दूँगा। सश्रद्ध सम्मान सह –

मैं हूँ महाराज का परम आज्ञाकारी सेवक,

अक्षय कुमार घोष

जनार्दन सखाराम नाइक का बँगला
प्रार्थना समाज के निकट, गिरगाँव, मुम्बई"[१]

अगले पत्र में स्वामीजी के भाई महेन्द्र नाथ दत्त उनके बारे में कोलकाता में फैली सनसनी के बारे में महाराजा को सूचित करते हैं –

१० नवम्बर, १८९३

७ रामतनु बोस लेन, कोलकाता

सेवा में,

खेतड़ी के महाराजा, राजपुताना

मेरा विश्वास है कि शिकागो तथा कोलकाता में सभी सम्प्रदायों तथा श्रेणियों के व्यक्तियों द्वारा मेरे भैया पर किये जानेवाले प्रशंसा तथा स्तुतियों की वर्षा होने की बात जानकर महाराज आनन्दित होंगे। पूरे नगर में उनके बारे में सनसनी फैली हुई है, परन्तु चूँकि अखबारों में विवेकानन्द नाम का एक ब्राह्मण संन्यासी लिखा है, (अत:) कोई भी उन्हें ठीक-ठीक समझ या पहचान नहीं सका है। कुछ दिनों पूर्व मैं उनके बारे में पता लगाने साधारण ब्राह्मसमाज गया था। वहाँ के ब्राह्म लोग 'इंडिपेंडेंट', 'क्रिश्चियन वर्ल्ड', 'न्यूयार्क हेराल्ड' आदि से उस व्यक्ति को पहचानने के लिये बड़े उत्सुक थे। मैं प्रश्न को टाल गया, परन्तु मेरे साथी ने उन्हें बता दिया कि वे उनके पुराने मित्र नरेन्द्रनाथ दत्त हैं और उन लोगों ने वादा किया कि वे अपने 'इंडियन मेसेंजर' में उनके बारे में और भी प्रकाशित करेंगे।

१. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter ... p. 183-85

'मठ' के लोग, उनके (स्वामीजी) के मित्र तथा परिचित लोग उनके बारे में काफी उत्साह दिखा रहे हैं और इसे अपनी 'विजय' बताकर खुशी मना रहे हैं। यह जानने के लिये बहुत-से लोग मेरे घर आते हैं कि अखबारों में जो कुछ निकल रहा है, क्या मैं उससे कुछ अधिक जानता हूँ, परन्तु दुर्भाग्यवश मैं उससे जरा भी अधिक नहीं जानता। मेरे पास उनका जो फोटो है, कुछ लोग उसी को उत्सुकतापूर्वक देखने में व्यस्त रहते हैं।

मैं महाराज को बहुत-सी बातें लिखना चाहता था। (परन्तु) अचानक ही इस पत्र का उपसंहार कर देने का कारण यह है कि इस समय मेरा मन भावनाओं से इतना अभिभूत है कि मैं आगे लिख पाने और मन में उठनेवाले विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हूँ।

इस पत्र के साथ मैं महाराज को 'स्टेट्समैन' की एक प्रति भेज रहा हूँ, जिसमें उनका थोड़ा-सा उल्लेख है और मैं अन्य समाचार-पत्रों को प्राप्त करके आपके पास भेजने का प्रयास करूँगा।

इस पत्र के द्वारा मैं महाराज तथा आपके परिवार के अन्य लोगों को अपना प्रणाम ज्ञापित करता हूँ। श्री जगमोहन लाल तथा अन्य सभी को मेरा प्रणाम।

आपका विश्वस्त

महेन्द्र नाथ दत्त

अगला पत्र मन्मथनाथ भट्टाचार्य ने लिखा है। इस पत्र का कुछ अंश आगे उद्धृत किया जा सका है। इस पत्र के साथ उन्होंने महाराज के अवलोकनार्थ स्वामीजी के समाचार से युक्त मद्रास से छपा एक अखबार भी भेजा है –

मद्रास

११ नवम्बर, १८९३

प्रिय मुंशी जगमोहन लाल,

... मैं 'मद्रास टाइम्स' भेज रहा हूँ, जिसमें स्वामीजी और उनकी वर्तमान गतिविधियों के बारे में एक अमेरिकी अखबार से एक अंश छपा है। इसे महाराजा को भी दिखायें। ...

आशा है आप सकुशल हैं। महाराजा बहादुर को कृपया मेरे श्रेष्ठ अभिवादन ज्ञापित करें। शीघ्रता में,

आपका विश्वस्त

एम. भट्टाचार्य

अगले पत्र में महेन्द्र नाथ दत्त ने स्वामीजी के बारे में छपे समाचारों से युक्त कोलकाता का अखबार महाराजा को भेजते हुए सूचित किया है कि वे अमेरिकी अखबारों को प्राप्त करने के प्रयास में लगे हुए हैं। साथ ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की एक बँगला पुस्तिका भी उन्हें भेजी है –

११ नवम्बर, १८९३

७ रामतनु बोस लेन, कोलकाता

सेवा में,

जगमोहन लाल एस्क्वेयर

खेतड़ी

प्रिय महोदय,

आपको समाचार-पत्रों तथा पत्रकों का एक बड़ा पैकेट भेजते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। मुझे लगता है कि इन्हें पढ़कर आपको भी खुशी होगी। उनमें मेरे भैया के बारे में कुछ बातें हैं और धर्म-महासभा का पूर्ण विवरण है। और समाचार-पत्र प्राप्त होने पर मैं उन्हें भी भेजूँगा। यदि मिल सके तो अमेरिकी समाचार-पत्रों को लाने या कम-से-कम उन विवरणों से युक्त अंशों को लिपिबद्ध करके लाने के लिये आदमी भेजे हैं।

मेरा विश्वास है कि परमहंसदेव की उक्तियों को (बँगला में होने के कारण) आप नहीं पढ़ सकेंगे, परन्तु आप इसे गंगा (स्वामी अखण्डानन्द) के माध्यम से पढ़ सकेंगे, जो इस समय खेतड़ी में ही हैं।

मैंने मठ में अपने भैया के सम्मान में एक भोज के लिये कुछ भेजा है। हम लोगों के लिये ऐसा करना ठीक और उचित ही है।

मैंने कल महाराज को एक पत्र लिखा है और 'स्टेट्समैन' की एक प्रति भेजी है, मुझे लगता है कि उसे पढ़कर आपको आनन्द होगा। पिछले दो महीने से भी अधिक काल से हम लोगों के बीच कोई पत्र-व्यवहार नहीं हुआ है। उत्तर में कृपया सूचित करें कि इन समाचार-पत्रों तथा सूचनाओं के बारे में महाराज क्या सोचते तथा महसूस करते हैं।

यदि शिकागो से कोई पत्र आया हो, तो कृपया महाराज की अनुमति से मुझे भेज दें।

कल शाम को मुझे सी.नोटों के रूप में २०० रुपये प्राप्त हुए, जिसके लिये मैं प्राप्ति-संवाद भेज रहा हूँ।

आपका विश्वस्त

महेन्द्र नाथ दत्त

अगले पत्र में महेन्द्र नाथ दत्त ने स्वामीजी की सफलता की कोलकाता में हुई प्रतिक्रिया के और भी विवरण भेजे हैं –

१८ नवम्बर, १८९३

७ रामतनु बोस लेन, कोलकाता

सेवा में,

जगमोहन लाल एस्क्वेयर, खेतड़ी

प्रिय महोदय,

मैंने अब तक कई पैकेट भेजे हैं, जो अब तक आप तक

पहुँच गये होंगे। अब मैं 'कलकत्ता रिविउ' (अस्पष्ट) भेज रहा हूँ, जो इस नगर में फैली उद्दीपना की एक संक्षिप्त झलक प्रस्तुत करता है। दूसरे में श्री पी.सी. मजूमदार का पूरा भाषण छपा है।

जैसा कि मैंने पहले लिखा था, कोलकाता के वाणिज्य-दूत ने अपने समाचार-पत्र हमें उधार दिये हैं। हम केवल न्यूयार्क का 'आउटलुक' लाये, जिसमें सभी प्रतिनिधियों का थोड़ा-थोड़ा विवरण दिया हुआ है। हिन्दुओं के बारे में यह कहता है – "हिन्दू लोग घास-फूस के नहीं बने हैं।" भैया (स्वामीजी) ने भारतीय ईसाई मिशनरियों को लोभी, 'उत्पीड़क' तथा 'हिन्दू धर्म को समझे बिना ही उसकी निन्दा करनेवाले' कहकर उनके अधिकारों के विषय में प्रश्न उठाये हैं और उनकी जीवन-शैली की कठोर भर्त्सना की है। इससे वहाँ एक तरह की सनसनी फैल गयी है। उन्हीं लोगों के इतिहासों के उद्धरणों से युक्त उनका यह प्रहार इतना प्रचण्ड था कि उन लोगों ने न केवल अपनी भूलों को स्वीकार किया, अपितु (उन लोगों ने) 'तुलनात्मक धर्म' का अध्ययन करके प्राच्य के अपने मिशनरी-जीवन में सुधार लाने का संकल्प किया है। यह प्रहार पूर्ण और सटीक था। इसने भैया को ब्रह्म के सर्वोच्च प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर दिया। सभी विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्मेलन में बड़ा सक्रिय रूप से भाग लिया और कहा कि हम आपके ईसा को, न केवल सम्मानित बल्कि पूजा करते हैं, परन्तु हम तुम्हारे ईसाई-धर्म को अपने घर में घुसने या 'हमारे सदाचार को भ्रष्ट करने' की अनुमति नहीं देंगे। यह कहकर उन्होंने भारत में ईसाई धर्म के प्रवाह को कुछ हद तक अवरुद्ध कर दिया।

मैंने आपको 'आउटलुक' भेज दिया होता, परन्तु जितने समय में उस समाचार-पत्र को लौटाना था, वह पूरा हो चुका था। वाणिज्य-दूत एक सज्जन व्यक्ति हैं और सही प्रकार के अमेरिकन हैं। बल्कि 'शिकागो हेराल्ड' लाना सबसे अच्छा होगा, क्योंकि उसमें सबके पूरे-पूरे भाषण दिये हुए हैं। मैं कोलकाता के रद्दी अखबारों को नहीं भेजना चाहता, क्योंकि उनके सारे विवरण बासी (अप्रामाणिक) हैं।

ब्राह्म लोग अब अपने 'मेसेंजर' में उनके विषय में कुछ नहीं छापेंगे, क्योंकि उनका कहना है कि इससे उनके कार्य को धक्का पहुँचता है। यह क्षुद्र मानसिकता का द्योतक है।

यहाँ उत्तेजना इतनी अधिक है कि जब कभी मैं सड़क पर निकलता हूँ (जो बहुत कम होता है), तो इस कारण मैं बहुत-से लोगों द्वारा घेर लिया जाता हूँ। हर किसी को उत्तर देना नि:सन्देह एक तरह की समस्या है।

गाजीपुर के पते पर भेजा हुआ आपका पत्र मुझे प्राप्त नहीं हुआ। मैंने यथासमय प्राप्ति-संवाद दे दिया था, डाक विभाग ने कुछ विलम्ब कर दिया होगा। इसी माह के १४ तारीख को मुझे २०० रुपयों के सी.नोट प्राप्त हुए थे।

जहाँ तक मेरे स्वास्थ्य का प्रश्न है, मुझे वही पुरानी कहानी दुहराने की जरूरत नहीं है। मेरा दर्द इतना भयानक था कि यदि मैं बच्चा होता तो रोने लगता। इस समय मैं थोड़ी राहत महसूस कर रहा हूँ। मौसम का हर परिवर्तन मेरे स्वास्थ्य में कुछ-न-कुछ (गड़बड़ी) उत्पन्न करता है। मैंने परमप्रिय महाराज को सूचित कर दिया है कि मैं (जीवन में) कौन-सा कदम उठाना चाहता हूँ अर्थात् मेरे लिये सर्वाधिक सुविधाजनक क्या होगा और मेरे स्वभाव, जीवनचर्या तथा प्रशिक्षण को अनुकूल पड़ेगा; और वह है 'बैरिस्टर बनना', क्योंकि मेरे पड़दादा से लेकर कई पीढ़ियों तक हम लोग वकालत ही करते रहे हैं।

मैं जानता हूँ कि आपको तथा अधिकांश लोगों को यह विचार अरुचिकर लगेगा और महाराज इस प्रस्ताव को खारिज कर देंगे, पर मैं इसी के लिये इच्छुक हूँ और स्वामी रा. (रामकृष्णानन्द), श. (सारदानन्द) तथा जो. (योगानन्द) के साथ परामर्श करने के बाद ही मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ। जैसा कि मैंने आपको पहले ही बता दिया था कि वे लोग स्वत:प्रवृत्त होकर अपना मत प्रकट नहीं करना चाहते।

परमप्रिय महाराज, उनके पूरे परिवार, आपको तथा घर के बाकी लोगों को मेरा प्रणाम।

आपका

महिम

पुनश्च – अमेरिका से कोई पत्र आया हो, तो उसे भेजिये। हम लोग उसके लिये व्यग्र हैं।

महिम

इसके बाद का पत्र स्वामीजी के गृही शिष्य हरिपद मित्र का लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है –

... ... पो. पेरे (?)

२६ नवम्बर, १८९३

प्रिय महोदय,

आपके पिछले पत्र के साथ पुस्तकें मिलीं। उन्हें यथासमय आपके धन्यवाद सहित उसके स्वामी को लौटा दिया जायेगा।

मैंने स्वामीजी को पत्र लिखा है, परन्तु उत्तर आना अभी बाकी है। 'बाम्बे टाइम्स' में उनके विषय में कुछ देखने को नहीं मिला।

आपके कृपापत्र के लिये अनेकानेक धन्यवाद सहित,

आपका विश्वस्त

एच. मित्र

सेवा में,

मुंशी जगमोहन लाल,

अगला पत्र स्वामीजी के चेन्नै-निवासी शिष्य श्री आलासिंगा पेरूमल द्वारा लिखा हुआ प्राप्त होता है। जैसा कि इसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है, इस पत्र के साथ उन्होंने स्वामीजी द्वारा खेतड़ी-नरेश को लिखा हुआ पत्र भेजा है और स्वामीजी से जुड़ी अपनी गतिविधियों की जानकारी दी है –

पचियप्पा कॉलेज

६ दिसम्बर, १८९३

प्रिय जगमोहन लालजी,

मुझे स्वामीजी से निर्देश मिला है कि इसके साथ संलग्न पत्र को महाराज के पास भेज दूँ। यह पत्र मैं आपको भेज रहा हूँ और आशा करता हूँ कि इस कारण महाराज बुरा नहीं मानेंगे, क्योंकि यह पत्र मुझे उनके पास भेजने को कहा गया है। मेरे विचार से स्वामीजी चाहते हैं कि किसी तरह यह पत्र महाराज तक पहुँच जाय।

हमने यहाँ पर स्वामीजी के महासभा में व्याख्यान का सार-संक्षेप तथा कुछ अन्य छोटी-मोटी जानकारियाँ एकत्र कर ली हैं। उनकी प्रतियाँ शीघ्र ही – तीन-चार दिनों में आपको भेजी जायेंगी। अगले सोमवार तक मेरे पास जरा भी खाली समय नहीं होगा। श्री भट्टाचार्य के नाम लिखे हुए आपके पत्र से, विशेषकर अमेरिका के विभिन्न नगरों में उनके भ्रमण के विषय में हमें बहुत-सी जानकारियाँ मिलीं।

मैंने 'इंडियन डेली न्यूज' तथा 'इंडियन मिरर' के पन्ने पलटे, परन्तु उनसे थोड़ी भी जानकारी नहीं मिली। हमने फ्रांसिस अल्बर्ट डफ्टी का एक लेख 'द हिन्दू' अखबार में प्रकाशित कराया। 'बॉस्टन इवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट' तथा कोलकाता के कुछ अखबारों ने उसका पुनर्मुद्रण किया है। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने यहाँ के किसी नरसिंहाचारी से स्वामीजी के बारे में एक वक्तव्य लिया और उनके बारे में एक अत्यन्त मूर्खतापूर्ण लेख लिख डाला। मैंने उसका एक प्रतिवाद भेजा है। मैंने सम्पादक से कहा है कि वे मेरा नाम या पता न छापें, परन्तु जनता के समक्ष स्वामीजी की एक बेहतर छवि प्रस्तुत करें। मैंने उन्हें अपने पास के सभी उद्धरणों की प्रतिलिपियाँ भेज दी हैं। स्वामीजी अमेरिका में जो इतने अच्छे ढंग से कार्य कर रहे हैं, इस पर हम सभी खूब आनन्द मना रहे हैं। ईश्वर उनके साथ हैं और वे जहाँ भी जायेंगे, निश्चित रूप से सफल होंगे। पूरे विश्व में वे प्रशंसित और सम्मानित होंगे। मैं लंदन की एक 'कटिंग एजेंसी' को लिख रहा हूँ कि वे अमेरिका या इंग्लैंड के किसी भी अखबार में स्वामीजी का कुछ भी उल्लेख हो, तो उनकी कतरने हमें भेज दें। इससे हमें भारी चिन्ता से मुक्ति मिल जायेगी।

आशा करता हूँ कि आप सपरिवार कुशलतापूर्वक होंगे। मुम्बई से अभी तक मुझे सूचना नहीं मिल सकी है कि (उन्हें) रुपयों का भुगतान हो गया है या नहीं। इस विलम्ब के लिये मैं सचमुच ही दुखी हूँ, अत्यन्त दुखी हूँ और मेरा पक्का विश्वास है कि रुपये अब तक अवश्य ही दे दिये गये होंगे। मेरे वहाँ के मित्र (सम्भवत: एस.एस.सेटलूर) का भाई काफी बीमार था, अत: वह बैंगलोर आ गया था और इसी कारण विलम्ब हुआ।

उन महाराज को प्रणाम, जिनके साथ मद्रासियों की एक टोली उसी अटूट बन्धन से जुड़ी हुई है, जो उन्हें स्वामीजी से जोड़ती है।

आपका अत्यन्त विश्वस्त

एम.सी. आलासिंगा पेरुमल

पुनश्च – जमींदारी के विषय में मुझे आपका पत्र आदि मिल गया है। इस विषय में कुछ करने का मुझे समय नहीं मिला। आशा है शीघ्र ही कर सकूँगा। ❖ (क्रमश:) ❖

* उपरोक्त सभी पत्र – खेतड़ी पेपर्स, १९९९ से अनुदित

धर्माचार्य की योग्यता

कोई भी व्यक्ति भगवत्प्रेम की गहराई में डूबना नहीं चाहता – कोई इतना धीरज नहीं रखता। विवेक-वैराग्य की साधना की किसी को परवाह तक नहीं है। दो-चार किताबें पढ़ते ही सभी भाषण देने और प्रचार करने में भिड़ जाते हैं। कितना आश्चर्य है! लोक-शिक्षा देना कितना कठिन काम है! जिसने ईश्वर का साक्षात्कार करके उनसे आदेश पाया है, वही लोक-शिक्षा दे सकता है।

पहले हृदय-मन्दिर में भगवान की प्राण-प्रतिष्ठा कर लो, उनके दर्शन कर लो; उसके बाद यदि इच्छा हुई तो प्रवचन देना। संसार में आसक्ति के रहते और विवेक-वैराग्य के न रहते, सिर्फ 'ब्रह्म-ब्रह्म' कहने से क्या होनेवाला है? मन्दिर में देवता तो हैं नहीं, व्यर्थ शंख फूँकने से क्या होगा? – ***श्रीरामकृष्ण***
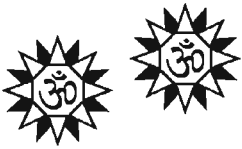
लन्दन में स्वामीजी का पदार्पण
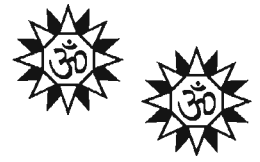
एरिक हेमण्ड

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी जब लन्दन में आये, तो उन्होंने काफी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। शिकागो की धर्म-महासभा के दौरान उनके चारों ओर जिस विस्मयपूर्ण प्रशंसा के परिवेश की सृष्टि हुई थी, यहाँ भी वैसी ही आशा थी। उनके आकर्षक व्यक्तित्व और उससे भी बढ़कर वाग्विदग्धता ने अनेक लोगों को अपने निकट आने के लिये बाध्य किया।

लन्दन हर प्रकार के विचारों को पूरा अवसर प्रदान करता है। यह असंख्य पहलुओं का नगर है। दुनिया के हर कोने से, हर सम्प्रदाय के उपदेशक तथा प्रचारक लन्दन की ओर खिंचे चले आते हैं। लाखों मनुष्यों से युक्त यह महानगरी एक नैसर्गिक चुम्बक के समान अगणित देशों से आनेवाले अगणित विचारधाराओं के लोगों को आकृष्ट करती है। यहाँ हर प्रकार के सिद्धान्त का स्वागत होता है। रोमांचकारी सिद्धान्तों के प्रचारकों के व्याख्यान सुनने को उत्सुक जिज्ञासुओं से यहाँ प्रतिदिन बहुत-से हॉल भर जाते हैं। मतवादों तथा सिद्धान्तों को तराजू पर तौला जाता है। हर श्रेणी के संगीतकारों द्वारा मानवीय भावना के इस महासंगीत की रचना हुई है।

लन्दन सचमुच ही एक सजीव ज्वालामुखी है, जिसमें सदैव विस्फोट होते रहते हैं। ये विस्फोट कभी धार्मिक, कभी दार्शनिक, तो कभी दिखावटी होते हैं, परन्तु वे जिज्ञासा से युक्त तथा सच्चे होते हैं। तो स्वामीजी इस लन्दन में आये और वहाँ के अनेक परस्पर-विरोधी तत्त्वों के बीच स्वयं को हिन्दू धर्म के अग्रदूत के रूप में प्रस्तुत किया। ब्रिटिश चिन्तन के उस केन्द्र में इसके लिये उनसे अधिक योग्य तथा प्रतिभाशाली कोई अन्य नहीं हो सकता था। वे श्रीरामकृष्ण के साथ अपने अन्तरंग सम्बन्ध तथा उनके प्रति अनन्त श्रद्धा से लैश थे और वे उन महापुरुष की सारी शक्ति को अपने श्रोताओं पर उड़ेल देते थे। जिस मूलभूत सिद्धान्त पर श्रीरामकृष्ण का जीवन टिका था और स्वामीजी जिसके प्रचारक थे, वह बाद में उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ था –

"मतवादों, आचारों, पन्थों, गिर्जाघरों या मन्दिरों की परवाह मत करो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो आध्यात्मिक सार वस्तु – आत्म-तत्त्व विद्यमान है, उसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं। मनुष्य के अन्दर यह भाव जितना ही अभिव्यक्त होता है, वह सदा के लिये उतना ही सामर्थ्यवान हो जाता है। पहले इसी को अर्जित करो, किसी में दोष मत देखो, क्योंकि सभी मतों और पन्थों में कुछ-न-कुछ अच्छाई विद्यमान है। अपने जीवन के द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का तात्पर्य केवल शब्दों, नामों या सम्प्रदायों से नहीं, बल्कि इसका तात्पर्य है आध्यात्मिक अनुभूति। जिन्हें अनुभव हुआ है, वे ही इसे समझ सकते हैं। जिन्होंने धर्मलाभ कर लिया है, वे ही दूसरों में धर्मभाव का संचार कर सकते हैं और वे ही मनुष्य जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं। केवल वे ही प्रकाश के शक्तिपुंज हैं।" (मेरे गुरुदेव)

आध्यात्मिकता के इस मूलभूत सिद्धान्त तथा इसकी अनुभूति को स्वामीजी ने जिस अभूतपूर्व ढंग से प्रस्तुत किया, उससे दूर तथा पास के बहुत-से लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए। पूरे लन्दन को शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि वहाँ एक विलक्षण व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ है। स्वामीजी ने धारावाहिक व्याख्यान देना तथा आगन्तुकों से मिलना आरम्भ किया – दूसरे शब्दों में कहें तो वहाँ के जनमानस में अपना स्थान बना लिया। उनके निष्ठावान प्रशंसकों में कुमारी मार्गरेट नोबल भी थीं, जो आगे चलकर उनकी एक निष्ठावान अनुगामिनी के रूप में भारत गयीं, रामकृष्ण संघ की एक ब्रह्मचारिणी बनीं और वेदान्त का समर्थन करनेवाली एक अद्भुत वक्ता तथा लेखिका के रूप में प्रसिद्ध हुईं। वस्तुत: उन्हीं के बारम्बार अनुरोध पर वर्तमान पत्रकार ने उप-नगरीय अंचल से स्वामीजी के आवास की यात्रा की। वहाँ निर्दिष्ट समय पर उनसे मिला जा सकता था और बातें की जा सकती थीं। एक बड़े ही असुविधाजनक, उदासी तथा निरुत्साहजनक संध्या को उनके निवास पर पहुँचे और वहाँ हमारी सर्वप्रथम निराशा से ही भेंट हुई। स्वामीजी उस समय अपने आवास से अनुपस्थित थे। तथापि एक अत्यन्त सौजन्यपूर्ण सन्देश हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। उस सन्देश में लिखा था कि वहाँ एक पूर्व-निर्धारित व्याख्यान के लिये वक्ता के न आ पाने के
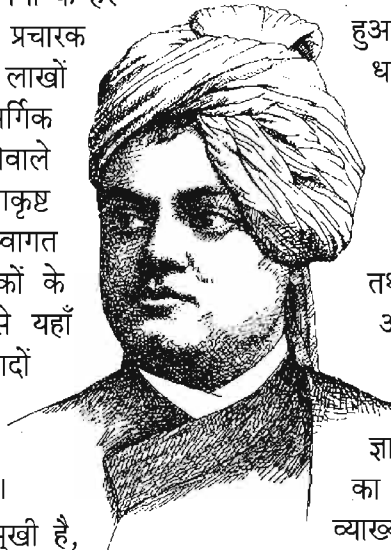
कारण उन्हें सहसा उसका स्थान ग्रहण करने की सूचना भेजी गयी, अत: उन्हें जल्दबाजी में सिसेम क्लब जाना पड़ा है और हम भी वहाँ जाकर उनका व्याख्यान सुन सकते हैं।

बड़े उत्साह के साथ हमने उनके निर्देश का पालन किया और उस क्लब को ढूँढ़ निकाला। हम एक बड़े बैठकखाने या हॉल में जा पहुँचे, जो सांध्यकालीन पोशाक में आये बुद्धिजीवियों से खचाखच भरा हुआ था। एक आतिथ्यपरायण तथा कृपालु सज्जन हमें बैठाने के लिये मंच के पास खाली पड़ी कुछ कुर्सियों के पास ले गये। वह स्थान और इस कारण हम भी सबकी नजरों में आनेवाले थे। हमारे ओवरकोट वर्षा से तर-बतर थे और वैसे भी हम लोग अपनी उत्कृष्ट वेशभूषा पहनकर नहीं आये थे, क्योंकि ऐसी कोई सम्भावना न थी कि हमें अचानक ही एक ऐसी विशिष्ट सभा में जाने का निमंत्रण मिल जायेगा। हमने पाया कि वहाँ उपस्थित होनेवाले अधिकांश लोग स्कूलों के शिक्षक तथा शिक्षिकाएँ और उसी प्रकार के लोग थे।

व्याख्यान के लिये घोषित विषय था – 'शिक्षा'। स्वामीजी शीघ्र ही मंच पर प्रकट हुए। उन्हें सहसा ही इस व्याख्यान के लिये बुलावा मिला था, अत: व्याख्यान के लिये तैयारी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि सदा के समान यहाँ भी उन्होंने अपनी योग्यता प्रमाणित की। शान्त, शिष्ट, आत्म-संयमित भाव से वे आगे बढ़कर खड़े हो गये। वे एक प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से अनुप्राणित थे और उनका हृदय तथा कण्ठ हिन्दू धर्म तथा उसके ज्ञान से परिपूर्ण थे। यह एक अभिनव दृश्य था, एक स्मरणीय अनुभव था। उनका साँवला रंग, उनकी गहरी चमकती आँखें, यहाँ तक कि उनकी वेश-भूषा भी आकृष्ट तथा सम्मोहित कर रही थी। और सर्वोपरि उनकी वक्तृता उन्हें एक ईश-प्रेरित वक्ता सिद्ध कर रही थी। फिर अँग्रेजी भाषा पर उनके अद्भुत प्रभुत्व ने उनके श्रोताओं को विस्मित और मंत्रमुग्ध कर दिया। यहाँ स्मरणीय है और जैसा कि हम बता चुके हैं कि वे ऐसे श्रोताओं को सम्बोधित कर रहे थे, जिनमें से अधिकांश नर-नारियों का व्यवसाय था अँग्रेज छात्रों को उनकी मातृभाषा पढ़ाना और उसी भाषा के माध्यम से अन्य विषयों की भी शिक्षा देना। शीघ्र ही उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि स्वामीजी इतिहास तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी उतने ही निष्णात हैं। वे इन लोगों के बीच अपने ही बूते खड़े थे। बिना किसी भय या संकोच के उन्होंने अपने श्रोताओं के समक्ष इस हिन्दू सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया कि धन कमाने की दृष्टि से शिक्षा प्रदान करनेवाला शिक्षक सर्वोच्च तथा गहनतम ज्ञान के प्रति द्रोह करता है। वे बोले – "शिक्षा धर्म का एक अभिन्न अंग है और दोनों में से किसी एक को भी, न तो बेचना चाहिये, न खरीदना ही चाहिये।" उनके शब्दों ने कटार के समान वहाँ की विद्वत्-परम्परा के कवच को भेद डाला, तथापि उनके व्याख्यान से किसी तरह की कटुता की सृष्टि नहीं हुई। इन सुसंस्कृत तथा उदार हिन्दू ने अपनी विशिष्ट मुस्कुराहट से सभी विरोधपूर्ण समालोचनाओं को ठण्डा कर दिया, अपने मत को स्थापित किया और लोगों पर एक अमिट छाप छोड़ा। वह अमिट छाप छोड़ने के लिये वे श्रीरामकृष्ण की प्रेरणा से वहाँ आये थे और पहले ही प्रयास में उन्हें सफलता मिली। उनका विचार था कि शिक्षकों को धन या यहाँ तक कि अपनी आजीविका के प्रेम से नहीं, अपितु अपने छात्रों के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिये।

व्याख्यान के बाद परिचर्चा भी हुई। शिक्षकों के धन कमाने के पक्ष में जलवायु तथा अन्य कारण प्रस्तुत किये गये। परन्तु स्वामीजी अपने विचारों पर अडिग रहे।

तो ऐसी थी उनके साथ हमारी पहली भेंट! यह एक ऐसी भेंट थी, जो एक सम्मानपूर्ण मित्रता, एक सच्चे प्रशंसा-भाव तथा परम कृतज्ञतापूर्ण स्मृति में परिणत हुई।

(वेदान्त केसरी, मई १९२२)

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, सड़क, धर्मशालाएँ – इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

माँ की बातें

सरला बाला सरकार

माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(रामकृष्ण-भावधारा के शुरुआती दौर के अनुरागियों में सरलाबाला सरकार का नाम उल्लेखनीय है। ९ दिसम्बर १८७५ से १ दिसम्बर १९६१ तक के अपने सुदीर्घ ८६ वर्ष के जीवन-काल में उन्होंने बँगला संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन के प्रति भी उनकी विशेष सहानुभूति थी। वे बंगाल की संस्कृति-जगत् के दो विशिष्ट परिवारों से सम्बन्धित थीं। 'युगान्तर' तथा 'अमृत-बाजार पत्रिका' के संस्थापक घोष परिवार उनका मातृवंश था और उनकी एकमात्र कन्या निर्झरिणी का विवाह 'आनन्द-बाजार पत्रिका' के संस्थापक-सम्पादक प्रफुल्ल कुमार सरकार के साथ हुआ था। सरला बाला द्वारा लिखित 'निवेदिता' (बाद में 'निवेदिता के जेमन देखियाछि') और 'स्वामी विवेकानन्द ओ श्रीश्रीरामकृष्ण संघ' – रामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। १९५३ ई. में कोलकाता विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'गिरीशचन्द्र घोष व्याख्यान-माला' की वे प्रथम महिला वक्ता थीं। 'उद्बोधन' पत्रिका में उनकी कई रचनायें प्रकाशित हुई हैं। १९०९ ई. में नव-निर्मित उद्बोधन-भवन में माँ के आने के बाद जिस दिन वे निवेदिता के आमंत्रण पर उनके में स्कूल गयीं, उस दिन वहाँ की छात्राओं ने सरलाबाला द्वारा रचित एक कविता गाकर माँ की चरणों में पुष्पाँजलि दी थीं। कविता सुनकर माँ और निवेदिता मुग्ध हो गयी थीं। माँ और भगिनी निवेदिता के साथ उनके प्रगाढ़ सम्पर्क का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। वर्तमान लेख उद्बोधन कार्यालय द्वारा प्रकाशित 'श्रीश्रीमायेर कथा' ग्रंथ के प्रथम भाग में 'परिचय' शीर्षक के साथ भूमिका-रूप में लिखित सरलाबाला सरकार की रचना से प्रांसगिक अंशों का संकलन करके यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ... वर्तमान रचना में सरलाबाला की अन्य रचनाओं से भी प्रासांगिक अंशों को यहाँ जोड़ा गया है और उन अंशों का स्रोत पादटीका में सूचित किया गया है। – सं.)

माँ की अधिकांश पुत्रियाँ सोचती थीं कि माँ मुझसे ही बड़ा प्रेम करती हैं, मुझे कभी नहीं भूलतीं। यह दीन अयोग्य लेखिका भी उन्हीं में से एक है। माँ बहुत पास ही रहती थीं। ऐसा नहीं था कि उनका दर्शन करने की प्रबल इच्छा न होती हो, परन्तु संकोच हमेशा आड़े आता था। तथापि जब भी जितने दिन बाद भी माँ का दर्शन मिला है, मैंने हृदय से अनुभव किया है कि माँ मुझे जरा भी नहीं भूली हैं।

उनका प्रेम प्रति क्षण उन्हें नये-नये रूपों में प्रस्तुत करता था। एक महिला का इकलौता पुत्र संन्यासी हो गया था, वे माँ के पास आकर अपने मन की पीड़ा बताकर रो रही थी, माँ की आँखों में भी आँसू भर आये। वे कहने लगीं – "अहा ! ठीक तो, एक ही पुत्र, प्राणों का धन, इस प्रकार संन्यासी हो गया, कहो तो, माँ भला कैसे जीये?" एक अन्य दिन एक माँ के दो पुत्रों ने जब संन्यासी होने के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, तो वे माँ के पास आकर कहने लगीं – "माँ, एक माँ सन्तान का कल्याण ही तो चाहती है ! इस संसार में रखा ही क्या है? पुत्र यदि परम कल्याण के पथ पर जाय, तो इससे बढ़कर आनन्द की बात और क्या होगी?" इस पर माँ प्रसन्न भाव से कहने लगीं – "ठीक कहती हो बेटी, लड़का यदि परम कल्याण के पथ पर जाय, तो माँ के लिये इससे बढ़कर आनन्द की बात और क्या हो सकती है?" इन दो प्रसंगों में माँ की ये जो दो अलग-अलग उक्तियाँ हैं, ये दोनों ही उनके हृदय से निकली थीं, एक में वे पुत्रशोक में मग्न माँ को सहानुभूति दिखाती हैं और दूसरे में वे यह जानकर आनन्दित हैं कि माँ ने समझ लिया है कि पुत्र का वास्तविक कल्याण किसमें है।

उन अपार स्नेहमयी जननी ने जैसे अपनी पितृहीना दु:खिनी स्नेहपात्री राधू के सभी अत्याचारों को चुपचाप सहन किया, वैसे ही अपने सभी शिष्यों के अत्याचारों को भी हँसते हुए सहन किया। जयरामबाटी में मलेरिया के प्रकोप से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। उसी समय दोपहर में वे थोड़ा विश्राम ले रही थीं, तभी बहुत दूर से उनका दर्शन करने कोई थका-हारा भक्त पहुँचा। माँ ने तत्काल ही उसकी देखभाल करने के लिये अपना विश्राम त्याग दिया। उनके सैकड़ों शिष्यों की सैकड़ों प्रकार के हठ हैं। सम्भव है किसी ने ऐसा संकल्प किया है कि माँ के हाथ का अन्न ग्रहण किये बिना वह पानी नहीं पीयेगा। माँ तत्काल रसोई में चली गयीं। दूसरे किसी ने शायद धूल-भरे पाँवों से ही माँ की चरण-पूजा करने के बाद ही अन्न ग्रहण करने का संकल्प लिया है। स्नेहमयी माँ ने उसका हठ भी पूरा किया। सैकड़ों अबोध शिष्यों की माँ के पास सैकड़ों प्रकार की हठें होतीं। सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति करुणामयी माँ हर प्रकार से स्नेहसुधा के द्वारा उन्हें शान्त कर रही हैं – माँ का यही चित्र हर एक

ने देखा है, परन्तु उनमें इसी के अनुरूप दृढ़ता का भी अभाव न था। उनकी अस्वस्थता के समय एक दिन गेरुआ वस्त्र पहने एक महिला उनके चरणों का दर्शन करने आयी। वे अत्यन्त व्याकुल होकर माँ से दीक्षा पाने के लिये आयी हैं। उस समय माँ तख्त पर लेटी थीं। वे ज्योंही माँ की चरणधूलि लेने को बढ़ीं, त्योंही माँ ने भयभीत होकर कहा, "क्या करती हो? क्या करती हो? पावों में हाथ मत लगाना, तुम गेरुआधारी संन्यासिनी हो, पाँव छूकर क्यों मुझे अपराधी बना रही हो?" महिला अत्यन्त दुखी होकर बोली, "बहुत उम्मीद से आपके पास आयी हूँ कि आप मुझे दीक्षा देंगी।"

माँ बोली, "बेटी, उतावलेपन से क्या कुछ होता है? समय होने पर अपने आप होगा। क्या तुम्हारी दीक्षा नहीं हुई है? गेरुआ किसने दिया है? जिससे साधना मिली है, निष्ठापूर्वक उन्हीं को पकड़े रहो, समय आने पर होगा।"

अन्ततः महिला ने बताया, "गेरुआ किसी ने दिया नहीं है, मैंने स्वयं ही पहन लिया है। और मुझे साधन-प्रणाली मिली है, उससे मन को शान्ति नहीं मिल रही है।"

माँ बोलीं, "आज मेरी तबीयत बहुत खराब है, तुम्हारे साथ बातचीत नहीं कर पायी, इसके लिये खेद मत करना। परन्तु बेटी, याद रखना, गेरुआ पहनना इतनी सहज बात नहीं है। आश्रम के ये त्यागी लड़के ठाकुर के लिये सब छोड़कर आये हैं, ये ही गेरुआ पहनने के अधिकारी हैं। गेरुआ पहनना क्या जिस-तिस का काम है?" इसी प्रकार की मीठी बातें कहकर माँ ने उसे विदा किया।

परन्तु माँ ने उसे चरण-धूलि नहीं लेने दिया।

माँ के पाँवों में वात के कारण दर्द रहता था, इसलिये वे पाँव फैलाकर बैठती थीं। उस समय कभी-किसी किसी सौभाग्यवती से वे स्वयं कहतीं, "बेटी, थोड़ा पाँव दबा दे तो, बड़ा कन-कन कर रहा है।"[१]

उद्‌बोधन भवन के पास दाल का एक गोदाम था, उसी में एक हिन्दीभाषी दम्पति निवास करते थे। माँ अपने कमरे के पीछे के छज्जे में बैठकर धूप सेकती थी। नीचे छोटे-छोटे बच्चे खेला करते थे – उसे देखना भी पसन्द करती थीं।

एक दिन एक हिन्दीभाषी व्यक्ति अपनी पत्नी को लाठी से पीट रहा था और स्त्री जोर-जोर से चिल्ला रही थी। यह घटना देखकर माँ छज्जे की रैलिंग पकड़कर खड़ी हो गयीं, उनके सिर का वस्त्र खिसक गया। स्वभाव से मृदुभाषिनी माँ उच्च स्वर में उस व्यक्ति से बोल उठीं, "लाठी फेंक दे लड़के, खबरदार जो उसके शरीर को हाथ लगाया!" और उसे इतनी जोर से डाँटने लगीं कि उस व्यक्ति ने घबराकर लाठी फेंक दी और हाथ जोड़कर माँ को प्रणाम करके न जाने कहाँ भाग गया। इसके बाद वह दिखाई नहीं पड़ा। इसके पूर्व वह अक्सर पत्नी को पीटा करता था, लेकिन उस दिन के बाद उसने कभी अपनी स्त्री पर हाथ नहीं उठाया।

जिन्होंने माँ को अपने नेत्रों से नहीं देखा, वे यदि पूछें – "माँ को देखकर आपको क्या लगा?" तो इससे उनकी माँ को जानने की व्याकुलता ही प्रकट होती है। पर जिन लोगों ने उस मातृमूर्ति को देखा है, वे भी क्या उन्हें जान सके हैं?

वे केवल इतना ही जान सके हैं कि माँ ऐसी हैं, जिनके सामने कोई संकोच नहीं होता, अपना पूरा मन उनके समक्ष खोलकर रखा जा सकता है। सारे मानसिक कष्ट वे केवल एक वाक्य से मिटा सकती हैं; उनके पास जाते ही मन-प्राण शीतल हो जाते हैं – यही माँ का वास्तविक स्वरूप है।

माँ की अस्वस्थता के दौरान ही (एक बार) उनकी जन्म-तिथि आ पहुँची। उस दिन बहुत-से भक्त उनके श्रीचरणों की पूजा करने आये हुए थे। उस समय माँ अत्यन्त दुर्बल थीं, उन्हें बार-बार बुखार आ जाता था। माँ पलंग पर घूँघट काढ़े बैठी हैं और सैकड़ों भक्त उनकी चरणपूजा करने आ रहे हैं। माँ स्नेहपूर्वक सबकी पूजा स्वीकार कर रही हैं। जल्दबाजी के बावजूद पूजा में बहुत समय लगा, पर माँ निरन्तर प्रसन्न भाव से शिष्यों की पूजा-अर्चना ग्रहण कर रही हैं। यह दृश्य आज भी मेरे मानस-पटल पर अंकित है।

सरलता की दृष्टि से माँ का श्रीरामकृष्ण के साथ अद्‌भुत सादृश्य था। जैसे ठाकुर अपने गले की पीड़ा कैसे कम हो – इस विषय में जिस-तिस से पूछा करते थे, वैसे ही माँ भी अपनी बीमारी के समय कहा करतीं, "यह क्या बीमारी हो गयी भाई, क्या यह ठीक नहीं होगा, बेटी! मुझे बिस्तरे पर लिटा दिया। क्या करूँ बोलो तो जरा!" फिर जैसे शशधर तर्कचूड़ामणि ने जब ठाकुर से कहा कि जहाँ कष्ट हो, उस स्थान पर मानसिक शक्ति का प्रयोग कर बीमारी ठीक कर लें, तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया था, "पण्डित होकर यह कैसी बात कहते हो जी! जो मन सच्चिदानन्द को दे दिया है, वह क्या दुबारा लौटाकर इस हाड़-माँस के ढाँचे को दिया जा सकता है?" वैसे ही यदि कोई माँ से अनुनयपूर्वक प्रार्थना करता, "आप एक बार कहिये कि रोग ठीक हो जाय, तो निश्चय ही ठीक हो जायेगी।" तो वे हर बार यही कहतीं, "ऐसा क्या मैं कह सकती हूँ, बेटी? ठाकुर जो करेंगे वही होगा। और क्या कहूँ?" यदि कोई जिद करके कहता, "आप एक बार अपने मुँह से कहिये, तो निश्चित ही बीमारी ठीक हो जायेगी।" तब भी उनका यही एक उत्तर होता, "मैं क्या ऐसा कह सकती हूँ? ठाकुर जो करेंगे वही होगा।"

इसी बीमारी के समय उद्‌बोधन भवन में माँ की जन्मतिथि के दिन की माँ की वह छवि याद आती है। माँ घूँघट लगाये

१. यह तथा इसके बाद के चार अनुच्छेद 'देश' पत्रिका के ४ पौष १३६० के अंक में प्रकाशित 'जननी सारदेश्वरी' लेख से संग्रहीत हैं।

खड़ी हैं, मानो एक मूर्ति हों। दल-के-दल भक्त आकर उनके चरणों में पुष्पांजलि दे रहे हैं। स्वामी सारदानन्द हाथ में घड़ी लिये द्वार पर खड़े हैं और बार-बार कह रहे हैं, "पाँच मिनट से अधिक कोई न ठहरे, बहुत-से लोग गली में खड़े हैं, सभी को समय देना होगा।"[२]

स्वामी सारदानन्द प्रतिदिन एक बार स्नान के बाद माँ को प्रणाम करने आते, माँ घूँघट निकाले खड़ी रहतीं। फिर बीमारी के समय उन्होंने ही माँ की सेवा की थी और माँ ने उन्हें, "शरत्, शरत्" कहकर पुकारा था। नन्हीं बच्ची के समान हठपूर्वक कहा था, "और कड़वी दवा नहीं पी सकती, बेटा।" कहा था, "बेटा, अपना ठण्डा हाथ एक बार मेरी पीठ पर फेर दो।" इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि माँ और बेटे के बीच घूँघट का व्यवधान केवल माँ की स्वाभाविक लज्जाशीलता की अभिव्यक्ति मात्र था, वस्तुतः आन्तरिक रूप से उनके बीच कोई दुरत्व नहीं था।

भगिनी निवेदिता और भगिनी क्रिस्टीन दिन में कम-से-कम एक बार बागबाजार में माँ के घर में जाकर उनके पास कुछ देर बैठती थीं। वे बिल्कुल बच्चियों के समान 'मातादेवी' के चेहरे की ओर आनन्द से निहारती रहतीं (निवेदिता और क्रिस्टीन – दोनों ही माँ को 'मातादेवी' कहती थीं)। भगिनी निवेदिता – जिनके समान तेजस्वी नारी महिलाओं में दुर्लभ हैं, जिनकी बुद्धि के आलोक से दीप्त अन्तर्भेदी नेत्रों को देखकर लगता मानो वे जगत् के सभी रहस्यों को भेदने में समर्थ हैं – उन्हीं निवेदिता को माँ के समीप बैठे देखकर लगता कि वे मानो पाँच वर्ष की नितान्त शिशु-स्वभाव, मातृनिर्भर बालिका मात्र हैं। मातादेवी जिस समय उनकी ओर स्नेहपूर्वक हँसते हुए देखतीं, उस समय वे माँ की दुलारी बालिका के समान गद्‌गद् हो जातीं। माँ जिस आसन पर बैठतीं, निवेदिता को उस दिन वह आसन बिछाने का सौभाग्य मिलता और उस दिन उनके आनन्द का ठिकाना नहीं रह जाता – वह आनन्द शब्दों के द्वारा नहीं, बल्कि उस समय उनके चेहरे को देखकर ही समझा जा सकता था। आसन को बिछाने के पहले वे उसे बारम्बार चूमतीं और बड़े यत्नपूर्वक धूल झाड़कर तब उसे बिछातीं। उस समय उनके चेहरे का भाव देखकर लगता कि माँ की इतनी-सी सेवा का मौका पाकर मानो वे अपने जीवन को सार्थक महसूस कर रही हैं।[३]

एक दिन निश्चित हुआ कि मातादेवी स्कूल देखने आयेंगी। सुनते ही निवेदिता के कार्य तथा आनन्द को मानो पंख लग गये। उन्होंने विद्यालय के सारे कमरों को झाड़-पोंछकर स्वच्छ कर डाला, भवन के द्वार पर फूल-पत्तियों का तोरण टाँगकर उसे सजा दिया। माँ कहाँ बैठकर बच्चियों से बातें करेंगी, बालिकाएँ उन्हें क्या उपहार देंगी, क्या सुनायेंगी, कैसे उनका स्वागत करेंगी, आदि को योजना बनाने में उन्हें क्षण भर का भी समय नहीं लगा। इसके बाद माँ जिस दिन विद्यालय में आयीं, उस दिन निवेदिता आनन्द-विह्वल हो उठीं; सभी वस्तुएँ यथास्थान हैं या नहीं, यह देखने के लिये इधर-उधर भागदौड़ कर रही थीं, बच्चों की भाँति अकारण हँस रही थीं और कभी आनन्द से अधीर होकर विद्यालय की शिक्षिकाओं और छात्राओं को, तथा कभी सेविकाओं तक को गले लगाकर स्नेह प्रदर्शित करने लगीं।

मुझमें ऐसी क्षमता नहीं है कि माँ का स्वरूप शब्दों में व्यक्त कर सकूँ। मैंने जब माँ को देखा नहीं था, उस समय मेरी पुत्री[४] निवेदिता-स्कूल में पढ़ती थी और उसी से पहली बार मैंने माँ के बारे में प्रत्यक्ष सुना। इसके पूर्व मैं केवल अपने मन की कल्पना में ही तृप्त रहा करती थी। मेरी पुत्री ने आकर पहली बार मुझे उनके बारे में प्रत्यक्ष सूचना दी। उसने कहा, "माँ, हमलोग माँ का दर्शन करने गयी थीं, वे कितनी सुन्दर हैं, कितनी अच्छी हैं – यह तुम देखकर ही समझ सकोगी। मुझे इतना अच्छा लगा कि माँ तुम्हें कैसे बताऊँ? मन में बारम्बार यही आ रहा था कि काश, यदि तुम भी एक बार उन्हें देख पाती।" उसकी ये बातें सुनकर मैंने खोद-खोदकर उससे माँ के बारे में छोटी-मोटी मधुर बातें पूछीं। उसने आनन्दपूर्वक बताया कि जब वे खाने के लिये बैठीं, तो कैसे हँस-हँसकर बालिकाओं के साथ बातें कर रही थीं। नाश्ते के समय कैसे गोलाप-माँ की झिड़की सुनकर वे उनकी ओर देखते हुए हँस रही थीं, कितने स्नेहपूर्वक अपने हाथों से सबको अपना प्रसाद दे रहीं थीं। उसका वर्णन सुनकर माँ की वह छवि मानो मेरे मन में अंकित हो गयी। उस दिन से मैं प्रतिदिन उसके मुख से माँ की बातें सुनती और मन-ही-मन मुझमें यह अभिमान प्रबल हो उठा कि जब उन्होंने सबको अपनाया है, तो केवल मुझे ही क्यों इतनी दूर रखा है? आखिर एक दिन वह दूरी मिट गयी और मुझे भी माँ का दर्शन मिला।

आज वे दृष्टि के परे हैं, केवल ध्यान की वस्तु हैं। १९२० ई. में २० जुलाई को रात के डेढ़ बजे चिन्मयी जगदम्बा मृण्मय घट को फोड़कर चली गयीं। स्थूल दृष्टि से आज उनके दर्शन का अधिकार खो गया है, पर जगत् उनके श्रीचरणों के स्पर्श से पवित्र होकर किस सम्पदा का अधिकारी हुआ है, अब इसी के आकलन का समय आ गया है।*

२. यह तथा परवर्ती अनुच्छेद पूर्व उल्लेखित 'देश' पत्रिका में प्रकाशित 'जननी सारदेश्वरी' लेख से संग्रहित है।

३. यह तथा इसका बाद का अनुच्छेद लेखिका के 'निवेदिता के जेमन देखियाछि' (१४वाँ संस्करण) नामक बँगला ग्रन्थ से संग्रहित है।

४. निर्झरिणी सरकार।

* उद्बोधन वर्ष ९, अंक ६, पृ. २६९-७२

दैवी सम्पदाएँ (२१) तेजस्

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

तेजस् (तेज:) इक्कीसवीं दैवी सम्पत्ति है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ दीप्ति, प्रकाश, प्रगल्भता और चैतन्यात्मक ज्योति बताया है।[१] 'रघुवंश' की मल्लिनाथी टीका में 'प्रभाव' और 'तेजस्वी' अर्थ उल्लेखित है।[२] कालिदास ने 'शुक्र' के अर्थ में प्रयोग किया है।[३] श्री वी. एस. आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश में तीक्ष्णता, किसी हथियार का धारदार किनारा, ऊष्मा, दीप्ति, प्रकाश, अग्नि, अग्निशिखा, मानव-शरीर की चमक या सुन्दरता, ऊर्जा, शक्ति, साहस, दृढ़ता वीरत्व की कान्ति, शुक्र आत्मिक शक्ति आदि अर्थ अंकित हैं।[४] यह आत्मा का प्रकाश, ज्ञान की ज्योति, तप की आभा, दम की प्रभा और ब्रह्मचर्य की विभा है। यह ऐसी अवर्णनीय ऊर्जा है, जिसमें प्राणी न केवल स्वयं परिचालित होता है, अपितु अन्य को भी समुचित दिशा में गतिशील बनाती है। यह निर्भीक एवं दुर्धर्ष शौर्य है, जो आसुरी शक्तियों से संघर्ष करता है और उन्हें अन्तत: पराभूत करता है। तेजस्वी पुरुष के शरीर में झलकनेवाली वह तेजस्विता ही तेज है, जो प्रभावी, शक्तिशाली, आकर्षक, क्रान्तिकारी, दुरगामी और सम्मोहक है। इसका प्रभाव आन्तरिक, सात्विक तथा स्थायी होता है। यह कान्ति, लावण्य, रूप और सौन्दर्य के साथ ओज, शौर्य, वीर्य, पराक्रम, शक्ति, प्रभा तथा आभा का समन्वित भाव है। यह केवल बाह्य एवं अस्थायी गुण नहीं है, अपितु आन्तरिक, स्थायी और निरपेक्ष मूल्य है, जो जीवन का परम साध्य है। तेजस्विता से शत्रु का मान भंग होता है। वह श्रीहीन और कातर बन जाता है। तेजस्वी पुरुष को किसी के समक्ष अपना परिचय नहीं देना पड़ता। उसे अपना अधिकार, पद तथा सम्मान माँगना नहीं पड़ता। श्रीकृष्ण जब पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन की सभा में पहुँचे, तब दुर्योधन के मना करने पर सभी सभासद स्वयं ही उठकर खड़े हो गये। वह स्वयं भी खड़ा हो गया था। यह श्रीकृष्ण का तेज था। सूर्य और अग्नि की तेजस्विता के कारण ही उनकी पूजा होती है। वनराज सिंह का राजत्व किसी की कृपा से प्राप्त नहीं हुआ। उसका राज्याभिषेक नहीं होता। तो भी वन्य पशुओं का राजा होने का अधिकार उसे स्वत: ही मिल जाता है –
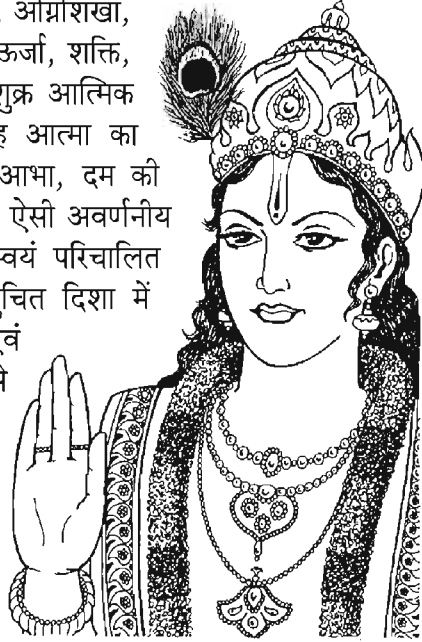
नाभिषेको न संस्कार: सिंहस्य क्रियते मृगै:।
विक्रमार्जित सत्त्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता॥

तेजस्विता आयु, लिंग, वर्ण, आश्रम एवं पद के आधार पर नहीं होती। सिंह शावक में भी वही तेज होता है, जो सिंह में होता है। वह भी मदमत्त गजराज के गण्डस्थल को चीरकर उसका हृदय विदीर्ण कर देता है, इसलिये वे उससे भी काँपते हैं।

तेज की विभिन्न अवधारणायें निम्नलिखित प्रकार हैं –

(१) तद्रेतस्तदेव शुक्रम् –

वह तेजस् ही रेतस् और शुक्र अर्थात् वीर्य है। इसी से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है – **तद् रेतस्तस्माद् इमा: प्रजा: प्रजायन्ते**।[६] वह जो रेतस् है, वह सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न है। वह शरीर में ही स्थित होकर शरीर को धारण करता है – **यद् एतद् रेत: तद् एतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज: सम्भूतम्, आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति**[७]– इसकी उपासना तथा रक्षा ही ब्रह्मचर्य है। इसे धारण करने से आयु, तेज, बल, वीर्य, प्रज्ञा, श्री, महान् यश, पुण्य और प्रेम की अभिवृद्धि होती है और त्याग करने से इन सबकी हानि –

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यश:।
पुण्यं च सुप्रीतिमत्त्वं च हन्यतेऽब्रह्मचर्यया॥
(गौतम ऋषि:)

व्यक्ति जो आहार ग्रहण करता है, उसके पाचन से परम रस वीर्य बनता है, जो शरीर में जीवनी शक्ति उत्पन्न कर रोगाणुओं के आक्रमण से रक्षा करता है। इसके क्षय से महामारियाँ घेर लेती हैं और मृत्यु भी हो सकती है –

१. आचार्य शंकर, गीताभाष्य

२. रघुवंशम्, १०/८३; ११/१ की आचार्य मल्लिकनाथ कृत टीका

३. दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुव:। अभिज्ञानशाकु., ४/११

४. Shri V.S. Apte's Sanskrit-English Dictionary, Motilal Banarasidas, Banaras, p. 239

६. प्रश्नोपनिषद्, १.१४

७. ऐतरयोपनिषद्, २.१

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्द्रव्यमात्मनः ।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ।।
(आयुर्वेद)

वीर्य आदि सभी धातुओं का तेज ही ओज है। यद्यपि यह हृदय में व्याप्त रहता है, पर पूरे शरीर को बाँधे रखता है –

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापकं देहस्थितिनिबन्धम् ।। (आयुर्वेद)

ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी – **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।** आत्मा की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है[८] और ब्रह्मचारी का तेज आदित्य के तेज को भी म्लान कर देता है – **ब्रह्मचर्येण आदित्यमभिजयन्ते** (प्रश्नोपनिषद्)। यह अमृत है, इसकी साधना तेजोयोग है।

२. तेजोऽग्निः –

अग्नितत्त्व पाँच तत्त्वों में से एक है। इस प्रपंचात्मक जगत् की संरचना इन्हीं पाँच तत्त्वों से हुई है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का विकास हुआ है। वेदविज्ञान है। वेदविज्ञान में अग्नि तथा सोम दो ही तत्त्व प्रमुख हैं और यह जगत् इन्हीं से परिव्याप्त है – **अग्निषोमात्मकं जगत्**। इनमें भी प्रमुख अग्नि है।[९] यह आर्यों का परमोपास्य देव है, ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्त इन्हें समर्पित हैं। वे इन्द्र के भाई, देवताओं के पुरोधा और पितरों के पूज्य हैं। वे जातवेदा हैं, उनका तेज उषा एवं सूर्य के तेज के समान है। इनके तीन रूप हैं – प्रथम वह जो सर्वप्रथम प्रकट हुआ था, जिससे सृष्टि का विकास शुरू हुआ था। दूसरा वह जो प्राणियों में है। तीसरा वह जो आकाश में सूर्य रूप में है, जिससे प्रतिपल प्रकाश एवं ऊर्जा प्रवाहित है। इनके गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिण – ये भी तीन रूप हैं। ये 'हव्यवाहन' और 'क्रव्याद' हैं।[१०] इसकी आराधना से तेज की सम्प्राप्ति होती है। अग्निविद्या, मृत्युविद्या और यज्ञविद्या तेजोयोग के प्रतिरूप हैं। नचिकेता ने आचार्य यम से अग्निविद्या का रहस्य जाना था। इसे जो जानने का प्रयास करता है, वह मृत्युपाशों को अपने सामने ही विच्छिन्न कर शोक से परे होकर अद्वितीय आनन्द प्राप्त करता है।[११]

३. तेजः सूर्यः –

वह तेज सूर्य रूप है। यह प्राणियों-समस्त चेतन पदार्थों का प्राण है – **प्राणः प्रजानाम्** – (प्रश्नोपनिषद्)। गायत्री मंत्र में इसी सवितादेव के वरेण्य तेज की आराधना की जाती है। यह अग्नि का ईंधन व नेत्र है। यह तेजोराशि व विश्व का पति है। इसकी उपासना बल, तेज एवं प्राण की उपासना है।[१२]

४. तेजश्चन्द्रः –

चन्द्रमा भी तेजस् का रूप है। यह नक्षत्रराट् और औषधियों का पति है। इसकी उत्पत्ति भगवान के मन से हुई है – **चन्द्रमा मनसो जातः**।[१३] जिस प्रकार सूर्य दिन को सुखमय बनाता है, उसी प्रकार चन्द्रमा रात्रि को। वैदिक ऋषियों ने इनसे वीर पुत्रों और भौतिक ऐश्वर्य की कामना की है।

संसार के समस्त प्राचीन धर्मों में अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र की उपासना प्रचलित है तथा ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है।

५. तेजोराशि-समुद्भवा दुर्गा –

भगवती दुर्गा तेजस् का रूप हैं। जब समस्त देव-शक्तियाँ व्यष्टिशः पराभूत हो गईं; तब समष्टि देव-सृष्टि से निःसृत महान् तेज पुंजीभूत हो गया। उसी से भगवती दुर्गा का प्राकट्य हुआ, जिन्होंने महिषासुर, शुम्भ तथा निशुम्भ नामक असुरों का वध किया।[१४] ये भगवती दुर्गा अग्निवर्णा और दीप्तिमती हैं। वे रुद्र, वसु, इन्द्र, अग्नि और युगल अश्विनीकुमार हैं। जो उन्हें इस प्रकार सर्वशक्तिमती जानता है, वही दैवी सम्पत्तियों को प्राप्त करता है।[१५]

६. तेजो ब्रह्म –

तेजस् ब्रह्म है, इसलिये ऋषि कहते है – **तेजोऽसि तेजो मयि धेहि** – हे परमात्मा, तू तेजोरूप है, मुझमें तेजस् का संचार कर। यजुर्वेद का मन्त्र है – **तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमासि** – तू तेजस् है, शुक्र और अमृत है। कठोपनिषद् (२-८) **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते** – के द्वारा वही बात कहती है। गीता में कहा है अग्नि और तेजस्वियों में जो तेज है, वह मैं हूँ। मैं ही इस सारे संसार को अपने तेज से तपाता हूँ। जगत् में जो भी विभूतिमान प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनका जन्म मेरे ही तेजस् के अंश से होता है। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेजस् है, जिसके कारण इनमें प्रकाश है और

---

८. मुण्डकोपनिषद् ३.१.५

९. ग्रीक दार्शनिक हेराक्लिटस ने अग्नि को ही प्रमुख तत्त्व माना।

१०. द्रष्टव्य – A Vedic Reader for students, A. Macdonell तथा अग्नि एवं पुरुष सूक्त।

११. "स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।" – कठोपनिषद्।

१२. विस्तृत अध्ययन हेतु देखिये 'कल्याण', १९७१ का 'सूर्यांक'।

१३. पुरुष-सूक्तम्।

१४. अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥
अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा ॥ ...
ततः समस्त देवानां तेजोराशिसमुद्भवाम्।
तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥

१५. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ। य एवं वेद स दैवीं सम्पदमाप्नोति – श्री देव्यथर्वशीर्षम् – दुर्गासप्तशती।

जिससे अन्य पदार्थ भी प्रकाशित होते हैं, क्योंकि केवल परमात्मा ही स्वत: प्रकाशित है, शेष परत: प्रकाशित, वह कारण रूप प्रकाश मैं हूँ। वही परमात्मा शशि, सोम और वैश्वानर है।[१६] इस प्रकार यह ब्रह्मवर्चस् की उपासना है। इसके द्वारा ब्राह्मतेज की प्राप्ति सम्भव है।

वस्तुत: इस तेजस् की उपासना बहुत्व की नहीं, अपितु एकत्व की उपासना है। हमारे शरीर में स्थित जो प्राणतत्त्व है, वह अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का ही रूप है। वेदविज्ञान में जो आदित्य तत्त्व है, वही प्राण, रयि, चन्द्र और अग्नि तत्त्व है – **आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा, प्राणोऽग्निः** ।[१७] पंच प्राणों में समान-आकाश, व्यान-वायु, उदान-तेज, प्राण-सूर्य और अपान-पृथ्वी हैं। तीन व्याहृतियों में भू-अग्नि, भुव: -वायु, सुव:-आदित्य है। ये क्रमश: ऋक्, साम और यजुर्वेद के प्रतीक हैं, तीनों लोकों के वाचक हैं। विशेष – चौथी व्याहृति मह: चन्द्र, ब्रह्म और अन्न का प्रतिरूप है।[१८] अग्नि पूर्वरूप आदित्य उत्तररूप, आप: सन्धि और बिजलियाँ सन्धान हैं।[१९] **दीपज्योति नमोऽस्तुते, दीपं दर्शयामि** – देवत्व का आराधन है। दीपकोपासना प्राणोपासना है। तेजस् की साधना है। इससे साधक के अन्तर में प्रवर्धमान तेज बैठता है और हृदय की गह्वर-गुफाओं का अन्धकार छँट जाता है।

तेज प्रमुखत: दो प्रकार का है – ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज। क्षात्रतेज मात्र भौतिक एवं शारीरिक है, जबकि ब्राह्मतेज आध्यात्मिकता तथा बौद्धिक ज्ञान पर आधारित होकर भी भौतिक बल से वियुक्त नहीं है। क्षात्रतेज केवल शस्त्र और शर (बाण) पर आश्रित है, जबकि ब्राह्मतेज शास्त्र और शस्त्र, शाप और शर दोनों से संयुक्त है। इसीलिये ब्राह्मतेज ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है – **धिक बलं क्षत्रिय बलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्। इदं क्षात्रम्, इदं ब्राह्मं शापादपि शरादपि, शास्त्रदपि शस्त्रादपि।** प्राचीन गुरुकुलों और ऋषियों के आश्रमों में उसी ब्राह्मतेज की प्राप्ति की योजना चलती थी। क्षत्रिय कुमार भी इसी का योग करते थे। यह सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय था। शौर्य, वीर्य, पराक्रम और ओजस् के सन्धान के साथ आत्मिक ज्योति का अनुसन्धान था। वैदिक ऋषि जानते थे कि बल की उपेक्षा करना गलत है। इसलिये उन्होंने घोषणा की – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** – यह आत्मा बलहीन द्वारा लभ्य नहीं है। बलवान बनने के लिये पच्चीस वर्षों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन की कठोर व्रत-व्यवस्था का यही आधार था। संयम-नियम का अभ्यास तेज की अभिवृद्धि हेतु समर्पित था। महाभारत कहता है – **दमस्तेजो वर्धयति** – दम तेज को बढ़ाता है और **तेजो दमेन ध्रियते** – तेज की धारणा करनेवाला दम है।[२०] ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, आर्जव, ह्री, क्षमा, शौच, आचार-संशुद्धि और इन्द्रियों के निग्रह से तेज बढ़ता है और इनके अभाव में पापी का पतन होता है –

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।
(महा. शान्ति २४०, १०-११)

तेज का विस्तार बिना तप के नहीं होता – **बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा**। और बिना तेज के रूप का भी अस्तित्व नहीं हो सकता – **जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं**।"[२१] तेजोयोग या तेजस् की दैवी सम्पदा प्राण, बल, आत्मा, ब्रह्म, ज्ञान, ब्रह्मचर्य, प्रकाश, शक्ति और अमृतत्व का नीराजन, देवत्व का सम्पूजन और सौन्दर्य का आराधन है। ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का त्रिवेणी-संगम है। **तमसो मा ज्योतिर्गमय** – के महामंत्र का क्रियायोग, असुरत्व, अविद्या, अज्ञान, मृत्यु तथा अन्धकार पर विजय का घोष और ब्राह्मतेज के अधिकार का अभियान है। इस अभियान में मनुष्य को अकेले ही बढ़ना और बढ़ते जाना है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर तेजस्विता के प्रतिरोधक तत्त्व हैं। इनके कारण तेज की उपासना, धारणा और संवर्धना नहीं हो सकती। चित्त की वासना, कामना और चंचलता से तेज का विनाश होता है। चित्त की निर्मलता, इन्द्रियों का दमन, आत्मसंयम, त्याग, तपस्या, अहिंसा एवं सत्य का आचरण तेजस्विता को पुष्ट करते हैं। तेजस्वी स्वाभिमानी होता है। उसे राष्ट्र, राष्ट्रीयता, तथा राष्ट्र की संस्कृति पर गर्व होता है। हमारा देश एवं हमारी जाति तेज की उपासक है, अत: प्रार्थना है, हम तेजस्वी बनें। हम तेज के दैवीगुण की ओर अग्रसर हों। हमारा ज्ञान तेजस्वी बने।

१६. (क) तेजश्चास्मि विभावसौ। (७.९)
(ख) तेजस्तेजस्विनामहम्। (७.१० तथा १०.३७)
(ग) स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्। (११.१९)
(घ) तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तम्। (११.१७)
(ङ) यद्यद्-विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (१०.४१)
(च) यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। (१५.१२)
गीता १०.२१; १५.१३-१४
१७. प्रश्नोपनिषद १.५; २.५
१८. तैत्तिरीयोपनिषद्। १९. वही।
२०. शान्तिपर्व २२०. ४ तथा ६
२१. रूपं पाकोऽक्षिणी ज्योतिश्चत्वारस्तेजसो गुणाः।।
महाभारत, अनु. ९८.४६

❖ (क्रमशः) ❖

सन्तसेवी हरनाम दास

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करत हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण की बात है। कराची के एक मध्यवर्गीय सिन्धी-परिवार में हरनाम नाम का एक बालक था। माँ बचपन में ही मर चुकी थी। पिता ने प्रौढ़ अवस्था में फिर से एक गरीब घर की लड़की से विवाह कर लिया। उसके दो सौतेले बहन-भाई भी हो गये थे।

हरनाम की एक सगी बड़ी बहन थी, जो शादी-शुदा थी। परन्तु उसे कभी त्यौहार आदि अवसरों पर भी पीहर नहीं बुलाया जाता था। कभी-कभी वह छिपकर भाई की पाठशाला में आती और कुछ चीजें दे जाती। घर में विशेष अवसरों पर छोटे भाई-बहन के लिये नये कपड़े और तरह-तरह की मिठाइयाँ बनतीं, परन्तु हरनाम को कोई नहीं पूछता। बेचारा बालक, ललचाई आँखों से देखता रहता। कभी-कभार वे दोनों इसे कुछ देना चाहते भी, तो माँ मना कर देती।

एक दिन, किसी साधारण से कसूर पर विमाता ने हरनाम को बहुत पीटा। पिता भी पत्नी के डर से कुछ नहीं बोला। भूखा-प्यासा बच्चा डर से भागकर समुद्र के किनारे जाकर वहाँ खड़े किसी मालवाही जहाज में छिप गया।

थोड़ी देर बाद, जहाज के रवाना होने पर उसे वस्तुस्थिति का भान हुआ और वह सुबक-सुबक कर रोने लगा। जहाज 'परशियन-ऑयल-कम्पनी' का था। ज्यादातर मल्लाह अरब थे, पर दो-चार साहब अफसर भी थे। जब उन्होंने बारह-तेरह वर्ष के इस अति सुन्दर बालक को इस स्थिति में देखा, तो वे लोग आश्चर्यचकित रह गये। धीरे-धीरे उन्होंने सारी बातों की जानकारी ली। जहाज का कराची वापस लौटना सम्भव नहीं था। कप्तान का बालक से स्नेह हो गया। उसने उसे अपनी केबिन में रख लिया। ईरान पहुँचकर कप्तान ने उसे एक धनी ईरानी परिवार में नौकर रखवा दिया। हरनाम की बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। थोड़े दिनों में ही उसे अरबी, फारसी और अंग्रेजी बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया।

उन दिनों ईरान में तेल कम्पनी के बहुत-से अधिकारी थे। परशियन-ऑयल कम्पनी का बड़ा साहब अंग्रेज सरकार का सर्वोच्च राजदूत भी था। एक दिन साहब और उसकी पत्नी टहलते हुये किसी अरबी शब्द के बारे में बहस कर रहे थे। हरनाम उधर से ही गुजर रहा था। उसने क्षमा माँगते हुए विनयपूर्वक कहा कि मेम-साहिबा का जुमला सही है।

अब तो हरनाम पर दोनों की पूरी कृपादृष्टि हो गई। उसे उन्हीं के बंगले में रहने-खाने की सुविधा मिल गई। हाथ-खर्च के लिये दो-सौ रुपये महीना दिया जाने लगा। काम था – मेम-साहिबा को अरबी और फारसी पढ़ाना।

इसी बीच हरनाम ने अपनी एक गल्ले-किराने की दूकान भी कर ली थी।

प्रथम-महायुद्ध के दौरान ईरान, मध्य-पूर्व के लिये रसद-सप्लाई का केन्द्र बना। वहाँ से हर महीने करोड़ों रुपयों के सामान का वितरण होने लगा। तेल-कम्पनी का बड़ा साहब इसका निदेशक नियुक्त हुआ। 'हरनामदास एण्ड कम्पनी' को ही अधिकांश सामान के वितरण का काम मिला। १९१८ ई. तक हरनाम दास करोड़पति सेठ बन गया। वहीं पर उसने चार-छह 'मुताह' (अस्थायी विवाह) कर लिये। इन बीबियों के सिवा उसके रंगमहल में एक-से-एक बढ़कर दासियाँ थीं। सैकड़ों नौकर-चाकर, मुनीम-गुमाश्ते घर और दफ्तर का काम देखते। उसके दरवाजे पर अनेक अतिथि और प्रतिनिधि आते रहते। सबका यथायोग्य आदर-सत्कार होता।

संयोगवश एक दिन एक भारतीय साधु घूमता हुआ वहाँ जा पहुँचा। स्वदेश के संन्यासी की दूसरों की अपेक्षा अधिक खातिरदारी होनी स्वाभाविक थी। उनके लिये एक महीने तक किसी राजा-महाराजा जैसा आयोजन हुआ। विदाई की दक्षिणा में कीमती शाल-दुशाले तथा अच्छी नगदी रकम भी दी गई।

* * *

पन्द्रह वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद एक साधु बाबा हरिद्वार के पास मुनि की रेती में एक बड़े-पकौड़ी की दुकान पर खड़े होकर दुकानदार को बड़े ध्यान से देख रहे थे। बाबाजी को बड़े प्रेम से नाश्ते का निमंत्रण मिला। पहले से ही चार-पाँच संन्यासी वहाँ 'प्रसाद' पा रहे थे। दुकान पर ग्राहकों की अच्छी-खासी भीड़ थी।

दुकानदार ने पूछा – ''महाराज! आप मुझे इतने गौर से क्यों देख रहे?''

संन्यासी ने पन्द्रह वर्ष पहले की, अपनी ईरान-प्रवास की कहानी सुनाकर कहा – "सेठ हरनाम दास का चेहरा आप से एकदम मिलता-जुलता था।"

जब उन्हें पता चला कि वे उन्हीं हरनाम दास से बातें कर रहे हैं, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्हें जो कहानी सुनाई गई, वह कुछ इस प्रकार थी –

"आपके चले जाने के लगभग एक वर्ष बाद बड़े साहब का तबादला हो गया और छोटे साहब ने काम सँभाला। मैंने कभी उसकी परवाह नहीं की थी, इसलिये वे और उसके मुँह-लगे दोस्त तथा कर्मचारी मुझसे जलते रहते थे। इसलिये कुछ ही दिनों बाद मुझ पर जालसाजी का मुकदमा चलाया गया, जिसकी सजा होती – मौत !

"जल्दी से व्यवस्था करके, मुनीमों को काम सँभलवा करके, हाथ में चार-पाँच लाख की सम्पत्ति लेकर, मैं अपने सचिव के साथ, ईरान से छद्मवेश में एक जहाज से स्वदेश के लिये रवाना हुआ। रास्ते में मेरा सचिव सन्दूकें लेकर न जाने कहाँ उतर गया। मैं जब मुम्बई के बन्दरगाह पर पहुँचा, तो मेरे पास थोड़े-से रुपयों और एक बहुमूल्य हाथ-घड़ी के सिवा कोई भी सम्पत्ति नहीं बची थी।

"घड़ी बेचने कुछ दुकानों में गया। दुकानदार मेरी मैली वेषभूषा और बढ़ी दाढ़ी देखकर सन्देह करने लगे कि शायद मैं घड़ी चुराकर लाया हूँ। केवल पचास-साठ रुपये तक देने को तैयार हुये। मैंने क्रोध में आकर घड़ी समुद्र में फेंक दी।

जगह-जगह मजदूरी करता हुआ, संयोग से यहाँ आकर बड़े-पकौड़ी की दूकान कर ली। थोड़े दिनों तक तो मन में सन्ताप रहा, फिर एक दिन एक महात्मा आये। उनका उपदेश था – "बच्चा, धन और मान में सच्चा सुख नहीं हैं। ईश्वर के बन्दों की सेवा करो, शान्ति मिलेगी।" तब से महात्माओं को प्रसाद देकर जो बच जाता है, उसी से दो जून की खुराक आराम से मिल जाती है। सुबह छह बजे से रात के बारह बजे तक मेहनत करने से शरीर स्वस्थ रहता है और मन भी नाना चिन्ताओं से मुक्त रहता है। भगवती गंगा का तट है और साधु-महात्माओं का सत्संग-लाभ – सचमुच ही मैं तो बड़े आनन्द में हूँ।" संन्यासी ने प्रसाद पाकर हरनाम दास को प्रणाम करते हुए कहा – "वस्तुत: आप ही सुख-दु:ख के समदर्शी और समभोगी हैं।"

१९६१ में हरनाम दास की मृत्यु हुई। मेरे मित्र स्वर्गीय श्रीराम शर्मा (सम्पादक, 'विशाल भारत') के घर पर एक-दो बार उनसे भेंट हुई थी। गरीबी होने पर भी आदतें पहले जैसी ही थीं। उनके पास कम्बल या कोट होता, तो किसी जरूरत-मन्द को दे देते। कई दिनों तक कड़ाके की सर्दी भुगतने के बाद, सम्भव होता तो फिर कोट बनवा पाते, पर उनके चेहरे पर कभी दीनता के भाव नहीं दिखाई दिये। ❑ ❑ ❑

मानवता की महिमा

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

**मानवता ही परम कर्म है,
मानवता ही धर्म।
मानवता में ही गुंफित है
मानव-तन का मर्म ।।**

**सत्य-न्याय-सद्‌भाव-अहिंसा
क्षमा-दया-उपकार ।
सेवा-संयम मानवता के
शुभ शाश्वत आधार ।।**

**दानवता है मानवता से
सभी भाँति प्रतिकूल ।
जिससे मिलते मानवता को
नित्य-निरन्तर शूल ।।**

**मानवता से बढ़कर कोई
योग, न भक्ति, न ज्ञान ।
जिसमें है मानवता, जग में
मानव वही महान् ।।**

**धन-वैभव-सौन्दर्य असीमित
भाँति-भाँति सुख-भोग ।
मानवता के बिना सभी हैं
जन-जीवन के रोग ।।**

**मानवता ही करती सबका
प्रेमपूर्ण उपचार ।
मानवता से ही बन सकता
विश्व एक परिवार ।।**
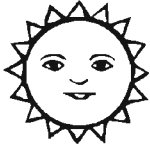
भारत का जागरण
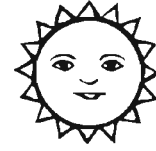
डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम,

(स्वामी विवेकानन्द के पैतृक आवास तथा सांस्कृतिक केन्द्र के १ अक्टूबर २००४ को हुए उद्घाटन के अवसर पर तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम द्वारा अँग्रेजी में दिया गया भाषण 'वेदान्त केसरी' मासिक के नवम्बर, २००४ अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से स्वामी विष्णुपादानन्द जी द्वारा कृत उसका हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति के पाठकों के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

मुझे स्वामी विवेकानन्द के पैतृक निवास के परिसर में निर्मित सांस्कृतिक केन्द्र के उद्घाटन समारोह में भाग लेते हुए अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस संस्था की परिकल्पना तथा क्रियान्वन के लिये मैं रामकृष्ण मिशन का अभिनन्दन करता हूँ। मुझे बताया गया है कि स्वामीजी के पैतृक-निवास के मूलभूत स्वरूप को बनाये रखकर ही इसका जीर्णोद्धार किया गया है। इस ऐतिहासिक अवसर पर उपस्थित संन्यासियों को मेरे प्रणाम और आयोजकों, रामकृष्ण मिशन के सदस्यों, शिक्षाविदों, स्वामी विवेकानन्द के अनुयाइयों, प्रान्तीय तथा केन्द्र सरकार के अधिकारियों तथा सम्मानीय अतिथियों को मेरी शुभकामनाएँ अर्पित हैं।

स्वामीजी – एक भविष्यद्रष्टा

मित्रो, स्वामी विवेकानन्द के पैतृक निवास के इस मनोहारी परिवेश में उपस्थित होकर मुझे उस घटना का स्मरण हो रहा है, जो १८९३ ई. में जापान से अमेरिका को जानेवाले जहाज में हुई थी। उस जहाज में दो महान् व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। दोनों का आपस में परिचय हुआ। वे दो व्यक्ति थे स्वामी विवेकानन्द तथा जमशेदजी नौसरवानजी टाटा। स्वामीजी ने जमशेदजी टाटा से पूछा कि वे कहाँ जा रहे हैं और उनका उद्देश्य क्या है ! जमशेदजी बोले – "स्वामीजी, मैं देश में इस्पात उद्योग को लाने हेतु जा रहा हूँ।" मित्रो, वह १८९३ ई. का वर्ष था और भारत अंग्रेजों द्वारा शासित था। स्वामीजी ने कहा – "सचमुच ही यह एक अच्छा उद्देश्य है। मेरी आन्तरिक शुभेच्छाएँ ! परन्तु मैं आपको एक छोटा-सा सुझाव देना चाहूँगा। आप इस्पात बनाने की प्रक्रिया को जान लेने में जो धन व्यय करेंगे, तो उसके साथ ही आप इस्पात बनाने के धातु-विज्ञान को भी जान लें। यदि आप इस विषय पर उन्नत शोध के लिए एक संस्था या प्रयोगशाला प्रारम्भ करें, तो मुझे बड़ी खुशी होगी।"

१८९३ ई. में स्वामीजी के मन में उस कैसी अद्भुत दूरदृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ था ! उसके बाद बहुत कुछ घटित हुआ। जमशेदजी नौसरवानजी टाटा इंग्लैंड से तो इस्पात-निर्माण का तकनीक प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु उन्हें इस्पात-निर्माण की तकनीक अटलांटिक महासागर के पार स्थित अमेरिका से प्राप्त हुई। उस योजना के दो भाग थे। प्रथम भाग था – इस्पात-निर्माण के लिये संयंत्र की स्थापना, जो वर्तमान झारखण्ड प्रान्त के जमदेशपुर नगर में है। इसके साथ ही उन्होंने बंगलौर में भौतिक विज्ञान शोध-संस्था स्थापित करने हेतु अपनी सम्पत्ति का छठवाँ हिस्सा दान कर दिया।

कुछ दिनों पूर्व मैं जमशेदपुर गया था; जहाँ मैंने जमशेदजी नौसरवानजी टाटा की दूरदृष्टि के फल देखे। टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी (TISCO) प्रति वर्ष ४० लाख टन इस्पात का उत्पादन करती है। उनकी दूरदृष्टि के कारण भारत आज इस्पात-निर्माण की प्रौद्योगिकी में आत्मनिर्भर है। अब हम यह भी देख रहे हैं कि प्रारम्भ में शोध-प्रयोगशाला के रूप में जिस संस्थान का बीजारोपण हुआ था, वह अब Indian Institute of science (भारतीय विज्ञान संस्थान) के नाम से एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा-केन्द्र बन चुका है।

यह घटना स्पष्टतया स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् व्यक्ति की दूरदर्शिता प्रगट करती है। उन्होंने एक बलिष्ठ विकसित भारत की परिकल्पना की थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से इसमें विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा उद्योग की भूमिका देखी थी। स्वामीजी के कुछ शिष्यों ने ही जगदीशचन्द्र बोस को उनके अनुसन्धान पर Patent (स्वामित्व अधिकार) प्राप्त करने को प्रेरित किया था। उनका भारत-जागरण का आह्वान केवल आध्यात्मिक ही नहीं, अपितु आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र के लिए भी था।

विभिन्न धर्मों के बीच दृढ़ बन्धन

मित्रो ! जब मैं तमिलनाडु के अण्णा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था, तो मुझे राजकोट नगर की कई संस्थाओं से निमंत्रण मिले थे। उनमें से एक राजकोट के बिशप श्रद्वेय फादर ग्रेगरी कैरोटेम्प्रेल की ओर से था, जिन्होंने मुझे क्राइस्ट कॉलेज का उद्घाटन करने का अनुरोध किया था। उसी दिन मैंने स्वामी धर्मबन्धु द्वारा आयोजित समारोह में एकत्र करीब एक लाख छात्रों को 'जीवन की दृष्टि' विषय पर सम्बोधित किया। फिर मुझे पोरबन्दर में रामकृष्ण मिशन द्वारा अयोजित छात्र-सभा में भाग लेने जाना था। महात्मा गाँधी ने राजकोट के जिस अॅल्फ्रेड विद्यालय में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पाई थी, उसे देखने जाना भी मेरे लिए एक प्रेरणास्पद अनुभव रहा। उस दिन के उपर्युक्त वर्णित परिवेश में दो घटनाएँ हुईं, जिनसे मैं आप लोगों को भी परिचित कराना चाहूँगा।

क्राइस्ट कॉलेज का उद्घाटन होने के पूर्व मुझे राजकोट में स्थित बिशप के निवास-स्थान में आमंत्रित किया गया था। मैंने जब वहाँ प्रवेश किया, तो मुझे ऐसा लगा मानो मैं किसी पवित्र स्थान में प्रवेश कर रहा हूँ। वहाँ एक अनोखा प्रार्थना-कक्ष था, जिसमें सभी धर्मों के प्रतीक – एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए विद्यमान थे। जब श्रद्धेय फादर ग्रेगरी कैरोटेम्प्रेल मुझे अपने उस अनोखे प्रार्थना-कक्ष की विशिष्टता से अवगत करा रहे थे, तभी निकट ही स्थित स्वामीनारायण मन्दिर से भी वहाँ आने के निमंत्रण आ पहुँचा। मैंने जब फादर ग्रेगरी को यह बताया, तो उन्होंने कहा कि वे भी मेरे साथ जाएँगे। हमने मन्दिर में प्रवेश किया और वहाँ पहुँचे, जहाँ भगवान श्रीकृष्ण का विग्रह अपनी पूर्ण आभा के साथ विराजमान था। वह एक अनूठा अनुभव था। दोपहर का समय होने के कारण मन्दिर उस समय प्राय: बन्द रहता है, परन्तु उस दिन मुख्यतया हमारे लिए खुला रखा गया था। मस्तक पर तिलक लगाकर, हम सभी अतिथियों का स्वागत किया गया। श्रद्धेय फादर ग्रेगरी, अब्दुल कलाम तथा वाय. एस. राजन् के मस्तक पर चमकीले तिलक लगे हुए थे और वह एक अद्भुत दृश्य था। यह घटना हमारे देश में विद्यमान महान् आध्यात्मिक अनुभवों की ओर अग्रसर करानेवाली विभिन्न धर्मों के एकत्व की दृढ़ता को रेखांकित करती है। उस घटना के बाद हुए कार्यों के परिणाम-स्वरूप २००३ ई. के अक्तूबर में Surat spiritual declaration (सूरत आध्यात्मिक घोषणा) का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें रामकृष्ण मिशन की भी एक गौरवमयी भूमिका थी।

प्रार्थना का प्रभाव

इसके बाद होनेवाली घटना और भी सुन्दर थी। रामकृष्ण मिशन, राजकोट के स्वामीजी ने अनुरोध किया कि एयरपोर्ट जाते समय कुछ मिनटों के लिए मुझे रामकृष्ण मिशन में भी आना होगा। वहाँ पहुँचकर मैंने पाया कि आश्रम में 'श्रीरामकृष्ण के उपदेश तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवनोद्देश्य' विषय पर प्रवचन चल रहा है। प्रवचन के बाद प्रार्थना शुरू हुई। वहाँ राग-ताल में निबद्ध संगीत के साथ मन्दिर के सभागृह को गुंजित करता हुआ आरती-गीत गाया जाने लगा। कई भक्तों के साथ मैं भी प्रार्थना में सम्मिलित हुआ। वहाँ का आध्यात्मिक वातावरण तथा प्रार्थना की आन्तरिकता मुझे एक अन्य ही राज्य में ले गई। मेरे साथ के स्वामीजी तथा मित्रगण आश्चर्य करते रहे और मैं किसी अन्य जगत् में चला गया; उस दिन मुझे लगा कि मानो समय का बन्धन समाप्त हो गया है। यह वहाँ के आध्यात्मिक परिवेश का फल हो सकता है।

अब जब मैं जब स्वामी विवेकानन्द के पैतृक निवास में उपस्थित हूँ, तो मेरा मन उसी प्रकार के आध्यात्मिक परिवेश की अनुभूति कर रहा है, जिसकी अनुभूति मैंने राजकोट में की थी। मुझे बताया गया कि इस केन्द्र ने अपनी गतिविधियों के एक अंग के रूप में पाठ्य पुस्तकों के ग्रन्थालय की योजना बनायी है। इस प्रसंग में मैं भारत में अब उपलब्ध डिजिटल ग्रंथालय के उपक्रम पर चर्चा करना चाहूँगा, जो पाठ्य पुस्तकों के ग्रन्थालय तथा इस परिसर के अनुसन्धान-केन्द्र के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

भारत में डिजीटल लायब्रेरी उपक्रम

भारत सरकार के संचार तथा सूचना मंत्रालय के तकनीकी विभाग (Ministry of communication and information technology – M.C.I.T) ने इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ साइंस (I.I.Sc.) तथा अमेरिका के कार्नेगी मेलन विश्वविद्यालय के साथ संयुक्त रूप से अग्रगामी योजना के रूप में एक Digital library web portal (डिजिटल ग्रन्थालय तथा वेब पोर्टल) के निर्माण का लक्ष्य रखा गया है। इस अग्रगामी योजना का उद्देश्य होगा – सृजनशीलता को बढ़ावा देना तथा मानव द्वारा आविष्कृत ज्ञान की सभी शाखाओं को आसानी से उपलब्ध कराना। प्रारम्भिक कदम के रूप में यह डिजिटल लायब्रेरी २००५ ई. तक भारत में नि:शुल्क पठन के लिए १० लाख ग्रन्थों के शोधनीय संग्रह (Searchable Collection) का निर्माण करेगी। अब तक भारत में ८०,००० पुस्तकें डिजिटलाइज्ड (digitalized) की जा चुकी हैं, जिनमें से ४५,००० पुस्तकें ९ प्रादेशिक भाषाओं में इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। इस सांस्कृतिक केन्द्र के अधिकारीगण ग्रन्थों के डिजीटलाइजेशन तथा अन्य सम्बन्धित कार्यों के लिए (I.I.Sc.) के प्रो. एन. बालकृष्णन् की सहायता ले सकते हैं। संग्रह-क्षमता प्रतिवर्ष दुगनी की जा रही है। आज हम कुछ ही ग्राम वजन की ३०० गीगा-बाइट्स डिस्क करीब १०० डॉलर में प्राप्त कर सकते हैं। इस डिस्क में ३०,००० से अधिक पुस्तकें आ सकती हैं। अगले १० वर्षों की अवधि में इसी आकार की डिस्क ३ करोड़ पुस्तकें धारण कर सकेगी, जो विश्व के विशालतम ग्रन्थालय से भी बड़ी होगी – और वह आपकी हथेली में आ जायेगी। इस सांस्कृतिक केन्द्र का विश्वभारती विश्वविद्यालय तथा कोलकाता में स्थित अन्य विश्वविद्यालयों से योग हो जाये, तो शोधकर्ताओं को रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य, विभिन्न धर्मों की तुलनात्मक समीक्षा एवं भारतीय संस्कृति के अध्ययन में सुविधा होगी।

मुझे पता चला है कि यह केन्द्र ग्रामों में स्थित निर्धनों तथा झुग्गी-झोपड़ियों के लिए ग्राम एवं झुग्गी विकास केन्द्र स्थापित करने की योजना बना रहा है। आपके साथ PURA की संकल्पना रखने की बात मैं सोच रहा हूँ जो ग्रामीण जनता के मार्गदर्शन तथा सहायता हेतु उपयोगी होगी।

ग्रामवासियों को नगरीय सुविधा उपलब्ध कराना

Providing Urban Amenities in Rural Areas – PURA (पुरा) नामक यह योजना लोगों के ग्राम से नगर की ओर स्थानान्तरित होने की समस्या को कम करेगी। इस योजना के द्वारा हम ग्रामीण परिवेश को इतना मनोहारी बनाना चाहते हैं, ताकि स्थानान्तरण उलटे शहरों से ग्रामों की ओर होने लगे। यह योजना निश्चित रूप से बड़े नगरों की घनी आबादी के कारण अपर्याप्त सुविधाएँ, प्रदूषण, अपराध, रोग, संक्रमण तथा निम्न जीवन-स्तर आदि समस्याओं पर रोक लगाने में सहायक होगी।

सम्पर्क-व्यवस्था के माध्यम से ग्रामीण सम्पन्नता

हमारे देश के लगभग ७० करोड़ लोग ६ लाख ग्रामों में निवास करते हैं। ग्रामों तथा नगरों के बीच विद्यमान भेद को दूर करने हेतु, रोजगार-निर्माण हेतु तथा ग्रामों में सम्पन्नता बढ़ाने हेतु तत्काल सभी स्तरों के लोगों को आर्थिक अवसर प्रदान कर ग्राम-समूहों को जोड़ने की आवश्यकता है। आज ग्रामों की मूलभूत जरूरतें हैं – जल, ऊर्जा, सड़कें, स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा रोजगार के अवसरों का निर्माण।

सम्पर्क-व्यवस्था की महत्ता

ग्रामीण भारत में जिन एकीकृत उपायों से सम्पन्नता लाई जा सकती है वे हैं – ग्राम-समूहों को अच्छे मार्ग तथा वाहनों से जोड़ना; इलेक्ट्रॉनिक्स माध्यमों से तथा इन्टरनेट की सुविधा उपलब्ध कराकर नगर क्षेत्र को ग्रामीण क्षेत्रों से संचार-व्यवस्था द्वारा जोडना; शिक्षा, किसान तथा कारीगरों को व्यवसायिक प्रशिक्षण तथा उद्यमशीलता कार्यक्रमों के द्वारा ज्ञान से सम्पर्क कराना; इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन तथा उसके विक्रय के द्वारा ग्राम-समूहों में सम्पन्नता लाना, आदि। यह सांस्कृतिक केन्द्र इन संकल्पनओं का उपयोग करके कोलकाता के निकट के कुछ ग्राम-समूहों को गोद लेकर तथा अशासकीय संस्थाओं, परोपकारी सज्जनों तथा बैंकों को सहभागी बनाकर ग्रामीण-जनसमूहों के जीवन को बेहतर बनाने की दृष्टि से ऐसी PURAs (पुराओं) के निर्माण में सहयोग कर सकता है – और यह स्वामी विवेकानन्द की स्मृति को समुचित श्रद्धांजलि होगी।

उपसंहार

प्रिय मित्रो, मुझे स्वामीजी का वह संक्षिप्त आह्वान याद आ रहा है, जो उन्होंने हमारे देशवासियों के प्रति व्यक्त किया था – "तुम स्वयं को और हर व्यक्ति को उसके सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोहनिद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस घोर नींद से जगा दो। जब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुम स्वयं ही शक्ति का अनुभव करोगे, महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आएगी, पवित्रता भी स्वयं ही चली आयेगी – तात्पर्य यह कि जो कुछ भी अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे पास आ जायेंगे।"

स्वामी विवेकानन्द का कर्मठता को प्रबल बनाने का आह्वान, वस्तुत: हृदय की अच्छाई को प्रबल बनाने का आह्वान था। जहाँ कहीं भी हृदय में अच्छाई है, वहीं चरित्र की सुन्दरता है और परिवार में सामंजस्य है। जहाँ कहीं भी परिवार में सामंजस्य है, वहीं राष्ट्र में सुव्यवस्था है। जहाँ राष्ट्र में सुव्यवस्था है, वहीं संसार में शान्ति है। अत: हम सब प्रबुद्ध नागरिकता को दृढ़तर बनाने के कार्य में कमर कसकर तैयार हो जायँ – यही स्वामी विवेकानन्द की विरासत का लक्ष्य था। ऐसा प्रबुद्ध नागरिक बलिष्ठ शरीर तथा अटूट निष्ठा से सम्पन्न होगा, जिसकी अपेक्षा में स्वामीजी ने कहा था – "उठो, जागो और तब तक रुको मत, जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय!" ध्येय है एक ऐसा सम्पन्न भारत, जो स्वयं शान्ति से परिपूर्ण रहते हुए सम्पूर्ण विश्व को शान्ति प्रदान करता हो। यह सांस्कृतिक केन्द्र ऐसे विचार तथा कार्य को फैलाने का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बने। मुझे इस सांस्कृतिक केन्द्र तथा पैतृक निवास का उद्घाटन करते हुए अतीव प्रसन्नता हो रही है। मेरा विश्वास है कि जो लोग इस संस्थान में आयेंगे तथा इसका परिदर्शन करेंगे, वे प्रचुर प्रेरणा से लाभान्वित होंगे। जो प्रेरणा तथा खुशी मुझे इस स्थान में आने से प्राप्त हुई, मैं चाहता हूँ कि वह प्रेरणा तथा आनन्द उन्हें भी मिले, जो इतने भाग्यवान नहीं कि यहाँ स्वयं आ सकें। रामकृष्ण मिशन तथा पैतृक निवास के प्रबन्धक अधिकारियों को मेरा सुझाव है कि वे वर्तमान कम्प्यूटर युग में उपलब्ध नवीनतम सुविधा a digital archive and high resolution virtual walk-through का उपयोग इस उपक्रम के निर्माण के लिए करें तथा उसे समूचे विश्व को भी उपलब्ध कराएँ, क्योंकि स्वामी विवेकानन्द केवल भारत के ही नहीं, अपितु समूचे विश्व के सर्वजनप्रिय महानायकों में से एक थे।

आप सब पर ईश्वर की कृपा बनी रहे!

(आश्रमवाणी, इन्दौर से साभार)

मनीषी अलबेरुनी

कंचन

भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म का मर्म जाननेवालों में जिन मुस्लिम मनीषियों का नाम प्रथम लिया जा सकता है, उसमें से एक हैं अबरैहा-मुहम्मद-इन-अहमद अलबेरुनी। इनरी धर्म-दर्शन के अलावा तत्त्वज्ञान, ज्योतिष और खगोल-विज्ञान के क्षेत्र में भी गहरी पैठ थी। इनका जन्म ९७३ ई. में उजबेकिस्तान के कैथ नामक गाँव में हुआ था। अलबेरुनी जब छोटे थे, तभी उनके पिता ने उन्हें गणित एवं ज्योतिष विज्ञान के आचार्य बदाउल सरहसनी तथा अवनसर मंसूर के पास भेजा। वहाँ उन्होंने भारतीय दर्शन के अलावा ईरानी, यूनानी तथा इबनानी दर्शन का भी गहन अध्ययन किया।

अपने देश पर महमूद गजनवी का आक्रमण होने के बाद १०१७ ई. में वे निर्वासित होकर भारत आये। यहाँ के जिन आध्यात्मिक, पौराणिक एवं ज्योतिष विषयक ग्रन्थों के अरबी अनुवाद उन्हें मिले, उन्होंने उस सबका गहन अध्ययन किया। उसके बाद उन्होंने संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य का अध्ययन किया। गीता के जीवन-मूल्यों तथा विचारों को पढ़कर वे विस्मित हो गये। गीता एक जीवनदायी ग्रन्थ के रूप में उनके कार्यों व लेखन में उतरने लगी। उन्होंने अपनी पुस्तकों में अनेक स्थानों पर गीता के कालजयी दर्शन की चर्चा की है। इसे उन्होंने मानवता के आत्म-कल्याण का सबसे शाश्वत पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ प्रतिपादित किया है। सामान्यत: दुनिया भर के सभी धर्मों, दर्शनों तथा मतवादों के अनुयाइयों की यह दृढ़ मान्यता होती है कि उन्हीं का धर्म या मत सर्वश्रेष्ठ है और बाकी सभी मतवाद उससे हेय है। अत: लोग दूसरे धर्म के ग्रन्थों को भी नहीं पढ़ना चाहते। अलबेरुनी इसके अपवाद थे। उन्होंने न सिर्फ विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन किया, बल्कि उनकी उत्तम कृतियों का अरबी में अनुवाद करके उस साहित्य को समृद्ध किया।

ज्योतिष-विज्ञान में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने विभिन्न देशों में प्रचलित पंचांगों, संवतों, दिनों, तिथियों तथा काल-गणना की पद्धतियों का अध्ययन करने के बाद अपना निष्कर्ष 'आसार-अलवाकिया' ग्रन्थ में दिया है। भारत में आने के बाद उन्होंने सर्वप्रथम यहाँ के ज्योतिष ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। उसके बाद चरक-संहिता अनूदित हुई। 'तारीखल हिन्दू' उनकी सबसे प्रसिद्ध और ऐतिहासिक कृति मानी जाती है, जिसमें सैकड़ों स्थानों पर गीता के श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यह एक प्रकार से भारतीय इतिहास, दर्शन तथा संस्कृति का विश्व-कोश है। इसके अस्सी अध्यायों में उन्होंने ईश्वर, आत्मा, कर्म का सिद्धान्त, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की धारणा, मूर्तिपूजा का रहस्य आदि को प्रतिपादित किया है।

उन्होंने स्वयं भी अनेक वैज्ञानिक खोजें कीं। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थ उन दिनों सबसे प्रामाणिक माने जाते थे। कहते हैं कि उन्होंने तकरीबन १४६ ग्रन्थ लिखे, परन्तु आज उनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं। उनकी विद्वत्ता, वैज्ञानिकता तथा चिन्तन का उस काल के समाज पर अमिट प्रभाव पड़ा। जीवन के जिस भी क्षेत्र में उन्होंने कदम रखा, उसके प्राचीन दर्शन से सार ग्रहण करके उसे परिमार्जित किया और साथ ही गहन चिन्तन, मनन तथा प्रयोग के द्वारा उसे समृद्ध भी किया।

भारतीय संस्कृति सर्वग्राही मानी जाती है। जिन अनेक धर्मों तथा देशों के विद्वानों और दार्शनिकों ने उसकी इस विशेषता को और भी पुष्ट करने का काम किया है, उसमें अलबेरुनी का नाम भी लिया जा सकता है। यद्यपि अनेक प्राचीन मनीषियों की भाँति ही उनके विषय में भी बहुत कम जानकारी मिलती है, तथापि उनके कालजयी कार्य का प्रभाव अमिट है। **(मैत्री, दिसम्बर २००४ अंक से साभार)**

❑❑❑

पुरखों की थाती

च्युता दन्ताः सिता केशाः दृष्टिरोध पदे पदे ।
क्षीणं जीर्णमिमं देहं, तृष्णा नूनं न मुञ्चति ।।

– मेरे दाँत गिर चुके हैं, केश पक चुके हैं, पग-पग पर देखने में असुविधा होती है, यह सारा शरीर ही जीर्ण-शीर्ण हो गाया है, तो भी तृष्णा मुझे नहीं छोड़ती।

दानं पूजा तपश्चैव तीर्थसेवा श्रुतं तथा ।
सर्वमेव वृथा तस्य, यस्य शुद्धं न मानसम् ।।

– उस व्यक्ति का दान, पूजा, तप, तीर्थसेवन, शास्त्र-पाठ आदि सब वृथा है, जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ, (क्योंकि इन सबका मूल उद्देश्य चित्तशुद्धि ही है)।

दानाय लक्ष्मीः सुकृताय विद्या,
चिन्ता परब्रह्म-विनिश्चयाय ।
परोपकाराय वचांसि यस्य,
धन्यस्त्रिलोकी-तिलकः स एव ।।

– वही व्यक्ति धन्य और तीनों लोकों के मस्तक का तिलक है, जिसका धन दान के लिये है, विद्या पुण्य के लिये है, चिन्तन परब्रह्म में चित्त को स्थिर करने के लिये है और वाणी परोपकार के लिये है।

सकल शोकदायक अभिमाना

डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी

मेरी दादी माँ कहतीं – "बच्चा, अहंकार तो भगवान का आहार है।" बचपन में उतनी समझ न थी। मैं दादी माँ से कहता – "तो घण्टी बजाकर ठाकुरजी को भोग क्यों लगाती हो? क्या अहंकार खाने से उनका पेट नहीं पेट नहीं भरता।"

दादी हँसतीं और कहतीं – "अरे नहीं रे, भगवान का पेट बड़ा भारी है। देखा नहीं तूने? महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना खा गये, तो भी उनका पेट नहीं भरा। कभी किसी का पेट भरा है क्या? खाओ तो लगता है भर गया, लेकिन जरा हिले-डुले नहीं कि फिर खाली।"

मैंने बीच में टोका – "तो क्या दादी माँ, भगवान दिन-रात खाते ही रहते हैं?"

– "हाँ भाई हाँ। वे दिन भर खाते-पीते रहते हैं" – दादीजी बोलीं।

मैं सोच में पड़ गया। दादी झूठ नहीं बोलतीं। वे भगवान के पूजा-पाठ में लगी रहती हैं। ठाकुरजी को सुबह-शाम भोग लगाती हैं। हम लोग भी तो सुबह-शाम ही भोजन करते हैं। यह अलग बात है कि बीच में कुछ चना-चबेना हो जाता है। हाँ, याद आया। एक बार एक मौसाजी आये थे। वे जब तक रहे, हमेशा कुछ-न-कुछ खाते रहते थे। माँ ने बताया था कि मौसाजी 'गैस' के मरीज हैं, इसलिए इनका पेट खाली नहीं रहना चाहिए। मैं यह सब सोच ही रहा था कि दादी माँ ने टोका – "किस उधेड़-बुन में पड़ गया रे!"

मैं दादी माँ से सहसा पूछ बैठा – "दादी माँ, भगवान जी गैस के मरीज हैं क्या?"

दादी माँ ठठाकर हँस पड़ी – "तू बड़ा शरारती हो गया है। भगवान कोई मरीज-वरीज नहीं हैं। तूँ, ऐसा कैसे सोच सकता है?"

– "वो, मौसाजी आए थे न! दिन भर कुछ-न-कुछ खाते रहते थे। माँ ने बताया था कि वे गैस के मरीज हैं। इसलिए खाली पेट नहीं रहते, कुछ-न-कुछ खाते रहते हैं।"

मेरी बात सुनकर दादी माँ बोलीं – "धत् पगले! भगवान तो अपने भक्तों के भले के लिए दिन-रात उनका अहंकार खाते रहते हैं। अहंकार उनका आहार है। खाते ही पच जाता है और उनका भक्त पतित होने से बच जाता है। अच्छाई से बुराई अधिक होती है। अहंकार भी दुनिया में इतना अधिक है कि भगवान उसे खाते रहते हैं, फिर भी खत्म होने का नाम नहीं लेता। देख, किसी को अपने रूप का अहंकार है, तो किसी को ज्ञान का, किसी को बल का, तो किसी को धन-जन का, किसी को तप की सिद्धि का, तो किसी को अपनी प्रसिद्धि अर्थात् यश का, किसी को मान का, तो किसी को दान का। अहंकार के न जाने कितने रूप हैं। मैं भी सब नहीं जानती, लेकिन इतना जरूर जानती हूँ कि चाहे तिनका हो या भारी-भरकम पेड़, सब अग्नि के आहार हैं, वैसे ही अभिमान या अहंकार चाहे हल्का हो या भारी, सब भगवान के आहार हैं। भगवान सब देखते रहते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता। अहंकार अपने आप ही भगवान के उदर में जाता रहता है।"

दादी माँ आगे बोलीं – "देखो, मैं तुलसी बाबा का राम-चरित-मानस बाँचती हूँ न! भगवान रामजी भी कितना खेल करते हैं –

सबहिं नचावत राम गोसाईं।
अपुना रहैं दास की नाईं।।

दास माने नौकर। नौकर को अहंकार नहीं होता। होना भी नहीं चाहिए। बड़ा होने पर, कुछ सज्ञान होने पर, अब दादी माँ की बातें समझ पा रहा हूँ। लोक में एक कहावत प्रचलित है – "घमण्डी का सिर नीचा।"

केनोपनिषद् एक उपाख्यान आता है। ब्रह्म की सहायता से देवताओं ने दानवों को पराजित किया। इसके बाद इन्द्र, अग्नि और वायु को अभिमान हुआ कि यह विजय हमने अपने पुरुषार्थ से प्राप्त की है। उनके मन में इसका अहंकार भर गया कि ब्रह्म ने देखा – ये तीनों देव तो अभिमान के मद में चूर हो रहे हैं। अत: इनका अभिमान दूर कर इन्हें सन्मार्ग पर लाना चाहिए। तब ब्रह्म ने यक्ष का परम तेजस्वी रूप धारण किया और जाकर देवों के समक्ष खड़े हो गये। परम तेजस्वी यक्ष को देखकर देवों के मन में उसे जानने की उत्कण्ठा हुई। इन्द्र ने अग्नि से कहा – "जाओ, इस यक्ष का परिचय प्राप्त करो।" अग्नि गये, किन्तु उसके समीप पहुँच कर भी उससे कुछ पूछने का साहस न हुआ।

तब यक्ष ने ही उनसे पूछा – "आप कौन हैं?"

– "मैं अग्नि हूँ और मेरे पास इतनी सामर्थ्य है कि मैं इस संसार में सब कुछ जला सकता हूँ।"

अग्नि के ऐसा कहने पर यक्ष ने एक तृण सामने रखकर कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने अपनी पूरी ताकत लगा दी, किन्तु तिनके को न जला सके। सिर नीचा करके वापस चले गये। तब इन्द्र ने वायु से कहा। वायु भी यक्ष के पास गये। यक्ष ने वही प्रश्न वायु के सामने भी रखा।

वायु ने कहा – "मैं इस संसार की समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर सकता हूँ।"

यक्ष ने वायु के समक्ष एक तिनका रखकर कहा – "इसे ग्रहण करो।"

वायु ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु तिनके को तनिक भी न हिला सके। वे भी सिर नीचा किये लौट आये।

तत्पश्चात् सभी देवताओं ने इन्द्र को प्रेरित किया। इन्द्र के पहुँचते ही वह तेजस्वी यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र तिरस्कृत होकर हतप्रभ रह गये। अग्नि और वायु की ही तरह उन्हें भी अपने 'देवेन्द्रत्व' का जो अभिमान था, वह कपूर की तरह उड़ गया। वे चकित खड़े थे कि वहाँ भगवती उमा प्रकट हुईं। इन्द्र द्वारा प्रणति निवेदन करने पर उमा ने यक्ष का परिचय देते हुए कहा कि ब्रह्म (परमेश्वर) की शक्ति से देवों ने दानवों पर विजय प्राप्त की है, किन्तु देवगणों को लगा कि यह विजय उन्होंने अपने बल-बूते पायी है। इस प्रकार उनमें अपनी शक्ति के विषय में पैदा हुए मिथ्याभिमान को दूर करने के लिए ही उस सर्व-शक्तिमान ब्रह्म ने यक्ष का रूप धारण कर आप सबको अहंकार त्यागने की शिक्षा दी है।

दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, गर्व या घमण्ड का भाव केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु हर योनि के जीवों में रहता है। देवों से लेकर सिद्ध ऋषि-मुनि से होता हुआ कृमि-कीटों तक यह सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुत: यह आसुर भाव या वृत्ति है। अन्त:करण में इस वृत्ति के आ जाने पर जीव में आसुरी प्रवृत्ति का उदय होता है, जो उसे पतन के मार्ग पर ले जाती है। इसीलिए साधु-महात्माओं ने सदैव अहंकार से दूर रहने का उपदेश दिया है। अहंकार अपने शरीर में स्थित वह काला नाग है, जो अपने आश्रय को ही दंश मारता रहता है, अपने विष से व्याकुल किये रहता है। अहंकारी व्यक्ति अपने समक्ष किसी को कुछ भी नहीं गिनता। वह अधम होते हुए भी स्वयं को सर्वोत्तम ख्यापित करता रहता है। अहंकार अपने साथ द्वेष और अमर्ष नामक दो बिच्छुओं को भी रख लेता हैं, जो गाहे-बगाहे डंक मारते रहते हैं। इन नागों तथा बिच्छुओं की दवा है – विनम्रता, श्रद्धा, त्याग-भावना और सेवा-परायणता। जिन मनुष्यों में ये भाव दृढ़ रूप से विद्यमान रहते हैं, उन्हें अहंकार छू भी नहीं सकता और यदि कदाचित अहंकार का बीज कहीं से पड़ा भी, तो अंकुरित होने के पूर्व ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए अहंकार-राहित्य में ही मनुष्यत्व, ऋषित्व और देवत्व निहित है।

यहाँ एक प्राचीन आख्यान उद्धृत करना समीचीन होगा। एक समय देवर्षि नारद समाधिस्थ थे। कामदेव ने उनका ध्यान भंग करना चाहा, किन्तु सफल न हुआ। इस पर नारद के मन में गर्व हुआ कि मैंने कामदेव को जीत लिया है।

अब कहाँ की समाधि! वे फूलते-इतराते ब्रह्माजी के पास जा पहुँचे और कहने लगे – "पूज्य तात, मैंने कामदेव को जीत लिया है।"

ब्रह्माजी मुस्कुराये और बोले – "ठीक है वत्स, लेकिन अब आगे इस बात की चर्चा किसी से न करना।"

नारद को ब्रह्मा की यह सीख अच्छी न लगी। जब तक दो-चार लोगों के बीच अपना यह सुवृत्त बाँट न लें, तब तक भला उनके पेट का पानी कैसे पचे!

इसलिए ब्रह्माजी को प्रणाम करने के बाद वे सीधे शिवजी के यहाँ पहुँचे। शिवजी को भी उन्होंने यह बात उत्साहपूर्वक सुनायी। वे भी मुस्कुराये। अन्तर्यामी तो वे हैं ही! उन्होंने नारद को सीख दी – "चलो, ब्रह्माजी को और मुझे तो यह वृत्तान्त सुना दिया, परन्तु विष्णुजी को कतई यह बात मत बताना।"

नारदजी को विस्मय होने लगा कि भला इतनी महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि को ये महाशय लोग छिपवाना क्यों चाहते हैं! उनके मन में इन दोनों के प्रति कुछ अन्यथा भाव उत्पन्न हुआ, जिससे इनके कामजय जन्य अभिमान को कुछ ठेस लगी। उन्होंने सोचा कि गलती मुझी से हुई है। इस वृत्तान्त को सर्वप्रथम मुझे अपने आराध्य शेषशायी भगवान विष्णु को सुनाना चाहिए था। अब नारद तनिक भी देर किये बिना झट क्षीर-सागर में शेष-शय्या पर विराजमान भगवान श्रीहरि के पास जा पहुँचे – **जिता काम अहमिति मन माहीं**। देवर्षि को देख भगवान सस्मित उनके स्वागत में उठ खड़े हुए, बाँहें पसारीं और अपने प्रिय भक्त को आलिंगन में बाँध लिया। प्रभु ने देवर्षि को कुछ बताने का मौका ही नहीं दिया। वे स्वयं ही कामजय हेतु उनके तप और एकनिष्ठ भक्ति की प्रशंसा करने लगे। देवर्षि ने अहंभाव को पुष्ट करते हुए गद्गद् होकर कहा – "यह आपकी ही कृपा से सम्भव हुआ है।"

प्रभु ने नारद के मन में विशाल गर्व-वृक्ष उगा हुआ देख कर उसे उखाड़ फेंकने के लिए अपने भक्त की हित-कामना से अपनी माया द्वारा एक लीला की। एक सुन्दर भव्य नगरी में, वहाँ के राजा द्वारा अपनी रूपवती कन्या का स्वयंवर हो रहा था। नारद वहाँ पहुँचे, उस कन्या के रूप-गुणों पर मुग्ध हो गये और त्वरित पद आकर श्रीहरि से अपने लिए ऐसा सुन्दर रूप माँगा कि कन्या उन्हीं के गले में वर माला डाले। भगवान को तो भक्त का मंगल करना था, नारद का अहंकार नष्ट करना था, अत: उन्हें कपि-मुख बना दिया। सभी जाकर स्वयंवर में बैठे, पर उस कन्या ने नारद की ओर ताका तक नहीं। नारद को जब वस्तुस्थिति ज्ञात हुई, तो अपना रूप देखकर उन्होंने श्रीहरि को भी भला-बुरा कहा। परन्तु नारायण द्वारा अपनी माया हटा लेने पर नारद को आत्मबोध हुआ और उनका सारा अहंकार दूर हो गया। अभिमान के कारण देवर्षि

दुर्दशाग्रस्त हो गये थे। एक दूसरा भी उपाख्यान नारद का ही है। उन्हें एक बार इस बात का अभिमान हो गया कि उनसे बढ़कर भगवान का कोई भक्त है ही नहीं।

वे श्रीहरि के पास पहुँचे और पूछने लगे – ''भगवन्! आपका सर्वाधिक प्रिय भक्त कौन है?''

प्रभु ने अविलम्ब पृथ्वी पर एक किसान को दिखाते हुए कहा – ''देवर्षि! यह किसान मेरा सर्वाधिक प्रिय भक्त है।''

देवर्षि ने कहा – ''उसमें ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो मुझमें नहीं है?''

प्रभु बोले – ''यह तो आप स्वयं जाकर देख सकते हैं।''

देवर्षि रूप बदलकर उस किसान के घर जा पहुँचे और अतिथि सत्कार पाकर पूरा एक दिन रुके रहे। लौटकर प्रभु को उलाहना देने लगे – ''मैं दिन-रात आपका स्मरण करता रहता हूँ! और वहाँ मैंने देखा कि किसान प्रात: नींद से उठ कर, दोपहर में खेतों से लौटकर और रात में सोने के पूर्व, इस प्रकार दिन में कुल मिलाकर केवल तीन बार 'हे राम!' कहा और आप कहते हैं – 'वह मेरा सबसे प्यारा भक्त है'।''

नारायण ने नारद को बीच में ही टोका, बोले – ''देवर्षि, पहले मेरा एक आवश्यक कार्य कर आइये, आपकी इस जिज्ञासा का समाधान मैं बाद में करूँगा, तेल से लबालब भरा हुआ यह कमण्डलु लीजिए और पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा पूरी करके लौट आइये। ध्यान रहे कि कमण्डलु से तेल का एक भी बूँद छलककर नीचे नहीं गिरना चाहिये।'' नारद श्रीहरि की आज्ञा अक्षरश: पालन करके लौट आए।

कमण्डलु से एक भी बूँद तेल छलका नहीं। श्रीहरि ने पूछा – ''देवर्षि, अब बताइये कि इस अवधि में आपने कितनी बार मेरा नाम लिया या मेरा स्मरण किया?''

देवर्षि बोले – ''प्रभो, मेरा पूरा चित्त तो आपके ही काम में लगा हुआ था, फिर नाम कैसे लेता?''

श्रीहरि बोले – 'देवर्षि, उस किसान का काम भी मेरा ही दिया हुआ है और वह काम बहुत कठिन भी है। लेकिन वह प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन बार मेरा स्मरण करता है। अब बताइये, आप बड़े हुए या वह किसान?''

नारदजी अब सब समझ गये। उनका अहंकार पूरी तौर से विनष्ट हो गया।

कभी-कभी व्यक्ति को जिस चीज पर सर्वाधिक अहंकार होता है, वही उसे संकट में डाल देती है। एक हिरन तालाब में पानी पी रहा था। उसने जल में अपनी सींगों की छाया देखी, तो उनके सौन्दर्य से आश्चर्य-चकित हो गया। उसे इस बात का अभिमान हो गया कि उसकी सींगें कितनी सुन्दर हैं! इसके बाद जब उसने अपने पैरों की ओर देखा तो बोला – ''छी, छी, ये तो बड़े भद्दे हैं। कहाँ मेरी इतनी सुन्दर सींगें! और कहाँ मेरे इतने भद्दे पैर!''

इसके बाद जब अपनी सींगों की सुन्दरता पर इठलाता हुआ फुदक रहा था, तभी सहसा एक शिकारी कुत्ता उसके पीछे लग गया। हिरन तेज गति से भागने लगा। लेकिन हाय, उसकी वे सुन्दर सींगें एक झाड़ी में उलझ गयीं और तब तक शिकारी कुत्ते ने आकर उसे दबोच लिया। हिरन आहें भरते हुए बोला – ''हाय, जिन पैरों की मैं निन्दा करता था, उन्होंने तो मुझे बचाने में कोई कसर न छोड़ा, लेकिन जिन सींगों की सुन्दरता पर मैं गर्व से फूला न समाता था, उन्हीं सींगों ने आज मेरी जान ले ली।''

इतिहास-पुराणों, अन्य साहित्यों और लोक-अनुभव क्षेत्र में भी अभिमान के दुष्परिणाम या कुफल के असंख्य वृत्तान्त तथा दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। अभिमान चाहे जिस वस्तु का भी हो, अहंकार चाहे जिस प्रकार का भी हो, वह सम्बद्ध व्यक्ति को एक-न-एक दिन, किसी-न-किसी तरह से मटियामेट करके रख देता है। अभिमानी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रहता और न ही उसे कभी शान्ति की शीतलता मिलती है। वह निरन्तर अहंकारजन्य दुर्भावों की प्रचण्ड अग्नि में जलता रहता है। जैसे पर्वत के मूल और शिखर पर स्थित व्यक्ति एक दूसरे को छोटा ही देखते हैं, वैसे ही घमण्डी सबको अपने से तुच्छ ही देखता है, जबकि सज्जनों की दृष्टि में उसमें अधिक अधम, पतित या नीच व्यक्ति दूसरा कोई नहीं होता।

प्राचीन काल में तब विदेह में राजा निमि का शासन था। उन्होंने कुछ सिद्ध योगीश्वरों को अपने यहाँ रखा। वे कई दिन तक अलग-अलग योगीश्वर से अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करते रहे। एक दिन राजा निमि ने योगीश्वर चमस से पूछा – ''धर्मात्मा कहे जानेवाले लोगों का भी प्राय: पतन क्यों होता है?'' योगीश्वर ने समाधान किया – ''बड़े-से-बड़े धर्मात्मा के अन्दर यदि अहंकार घर कर ले, तो उसका पतन अवश्यम्भावी है। जब ब्राह्मण अपने को क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र से; साधु गृहस्थ से और विद्वान अपढ़ से स्वयं को श्रेष्ठ मानने लगे, तो उसका पतन हो जाता है। अहंकार ऐसा दुर्भाव है कि वह सारे सद्भावों को दूषित और नष्ट कर देता है। अभिमानी की प्रवृत्ति पुण्य-संचय से तो हट ही जाती है, उसके संचित पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं और वह घोर कष्ट का भागी होता है। खाज को खुजलाने से सुख मिलता है, पर अन्तत: उससे भयंकर वेदना मिलती है। इसी तरह अहंकारी क्षण भर के लिए अपने बड़प्पन का सुख भले सोच ले, किन्तु अन्तत: उसे नरकतुल्य पीड़ा भोगनी पड़ती है। अत: निरहंकारिता से युक्त होकर व्यक्ति को विनय तथा प्रेम का आश्रय लेना चाहिए। यहीं मार्ग उत्तम और कल्याणकारी है। ❑❑❑

(मासिक 'आनन्द-बोध' के अप्रैल-मई २००७ अंक से साभार)